

## अथ त्रयोदशोऽध्यायः

### अवतरणिका—

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि आप (सगुण-साकार-)की उपासना करनेवाले और अव्यक्त अक्षर-(निर्गुण-निराकार) की उपासना करनेवाले—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ हैं? उत्तरमें भगवान्ने अपनी उपासना करनेवालोंको श्रेष्ठ बताया और आगे कहा कि अव्यक्त अक्षरकी उपासना करनेवाले भी मेरेको ही प्राप्त होते हैं; परन्तु देहाभिमान रहनेके कारण उनको उपासनामें कठिनता अधिक होती है। ऐसा कहकर भगवान्ने सगुण-साकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन किया। अब अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये और उसमें देहाभिमानरूप मुख्य बाधाको दूर करनेके लिये भगवान् तेरहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं। सबसे पहले भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।  
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

कौन्तेय	= हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	क्षेत्रम्	= 'क्षेत्र'—	वेत्ति	= जानता है,
इदम्	= 'यह'—रूपसे कहे जानेवाले	इति	= इस	तम्	= उसको
शरीरम्	= शरीरको	अभिधीयते	= नामसे कहते हैं (और)	तद्विदः	= ज्ञानीलोग
		एतत्	= इस क्षेत्रको	क्षेत्रज्ञः	= 'क्षेत्रज्ञ'—
		यः	= जो	इति	= इस नामसे
				प्राहुः	= कहते हैं।

व्याख्या—'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'—मनुष्य 'यह पशु है, यह पक्षी है, यह वृक्ष है' आदि-आदि भौतिक चीजोंको इदंतासे अर्थात् 'यह'—रूपसे कहता है और इस शरीरको कभी 'मैं'—रूपसे तथा कभी 'मेरा'—रूपसे कहता है। परन्तु वास्तवमें अपना कहलानेवाला शरीर भी इदंतासे कहलानेवाला ही है। चाहे स्थूलशरीर हो, चाहे सूक्ष्मशरीर हो और चाहे कारणशरीर हो, पर वे हैं सभी इदंतासे कहलानेवाले ही।

जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ है अर्थात् जो माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होता है, उसको स्थूलशरीर कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'अन्नमयकोश' भी है; क्योंकि यह अन्नके विकारसे ही पैदा होता है और अन्नसे ही जीवित रहता है। अतः यह अन्नमय, अन्नस्वरूप ही है। इन्द्रियोंका विषय होनेसे

यह शरीर 'इदम्' ('यह') कहा जाता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुएको सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इन सत्रह तत्त्वोंमेंसे प्राणोंकी प्रधानताको लेकर यह सूक्ष्मशरीर 'प्राणमयकोश', मनकी प्रधानताको लेकर यह 'मनोमयकोश' और बुद्धिकी प्रधानताको लेकर यह 'विज्ञानमयकोश' कहलाता है। ऐसा यह सूक्ष्मशरीर भी अन्तःकरणका विषय होनेसे 'इदम्' कहा जाता है।

अज्ञानको कारणशरीर कहते हैं। मनुष्यको बुद्धितकका तो ज्ञान होता है, पर बुद्धिसे आगेका ज्ञान नहीं होता, इसलिये इसे अज्ञान कहते हैं। यह अज्ञान सम्पूर्ण शरीरोंका कारण होनेसे कारणशरीर कहलाता है—'अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्' (अध्यात्म०, उत्तर० ५।९)। इस कारण-शरीरको स्वभाव, आदत और प्रकृति भी कह देते हैं और

इसीको 'आनन्दमयकोश' भी कह देते हैं। जाग्रत्-अवस्थामें स्थूलशरीरकी प्रधानता होती है और उसमें सूक्ष्म तथा कारणशरीर भी साथमें रहता है। स्वप्न-अवस्थामें सूक्ष्मशरीरकी प्रधानता होती है और उसमें कारणशरीर भी साथमें रहता है। सुषुप्ति-अवस्थामें स्थूलशरीरका ज्ञान नहीं रहता, जो कि अन्नमयकोश है और सूक्ष्मशरीरका भी ज्ञान नहीं रहता, जो कि प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमयकोश है अर्थात् बुद्धि अविद्या-(अज्ञान-)में लीन हो जाती है। अतः सुषुप्ति-अवस्था कारणशरीरकी होती है। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें तो सुख-दुःखका अनुभव होता है, पर सुषुप्ति-अवस्थामें दुःखका अनुभव नहीं होता और सुख रहता है। इसलिये कारणशरीरको 'आनन्दमयकोश' कहते हैं। कारण-शरीर भी स्वयंका विषय होनेसे, स्वयंके द्वारा जाननेमें आनेवाला होनेसे 'इदम्' कहा जाता है।

उपर्युक्त तीनों शरीरोंको 'शरीर' कहनेका तात्पर्य है कि इनका प्रतिक्षण नाश होता रहता है।<sup>१</sup> इनको कोश कहनेका तात्पर्य है कि जैसे चमड़ेसे बनी हुई थैलीमें तलवार रखनेसे उसकी म्यान संज्ञा हो जाती है, ऐसे ही जीवात्माके द्वारा इन तीनों शरीरोंको अपना माननेसे, अपनेको इनमें रहनेवाला माननेसे इन तीनों शरीरोंकी 'कोश' संज्ञा हो जाती है।

इस शरीरको 'क्षेत्र' कहनेका तात्पर्य है कि यह प्रतिक्षण नष्ट होता, प्रतिक्षण बदलता है।<sup>२</sup> यह इतना जल्दी बदलता है कि इसको दुबारा कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् दृष्टि पड़ते ही जिसको देखा, उसको फिर दुबारा नहीं देख सकते; क्योंकि वह तो बदल गया।

शरीरको क्षेत्र कहनेका दूसरा भाव खेतसे है। जैसे खेतमें तरह-तरहके बीज डालकर खेती की जाती है, ऐसे ही इस मनुष्य-शरीरमें अहंता-ममता करके जीव तरह-तरहके कर्म करता है। उन कर्मोंके संस्कार अन्तःकरणमें पड़ते हैं। वे संस्कार जब फलके रूपमें प्रकट होते हैं, तब दूसरा (देवता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदिका) शरीर मिलता है। जिस प्रकार खेतमें जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही अनाज पैदा होता है, उसी प्रकार इस शरीरमें जैसे कर्म किये जाते हैं, उनके अनुसार ही दूसरे शरीर, परिस्थिति आदि मिलते हैं। तात्पर्य है कि इस शरीरमें किये गये

कर्मोंके अनुसार ही यह जीव बार-बार जन्म-मरणरूप फल भोगता है। इसी दृष्टिसे इसको क्षेत्र (खेत) कहा गया है।

अपने वास्तविक स्वरूपसे अलग दीखनेवाला यह शरीर प्राकृत पदार्थोंसे, क्रियाओंसे, वर्ण-आश्रम आदिसे 'इदम्' (दृश्य) ही है। यह है तो 'इदम्' पर जीवने भूलसे इसको 'अहम्' मान लिया और फँस गया। स्वयं परमात्माका अंश एवं चेतन है, सबसे महान् है। परन्तु जब वह जड (दृश्य) पदार्थोंसे अपनी महत्ता मानने लगता है (जैसे, 'मैं धनी हूँ', 'मैं विद्वान् हूँ' आदि), तब वास्तवमें वह अपनी महत्ता घटाता ही है। इतना ही नहीं, अपनी महान् बेइज्जती करता है; क्योंकि अगर धन, विद्या आदिसे वह अपनेको बड़ा मानता है, तो धन, विद्या आदि ही बड़े हुए उसका अपना महत्त्व तो कुछ रहा ही नहीं! वास्तवमें देखा जाय तो महत्त्व स्वयंका ही है, नाशवान् और जड धनादि पदार्थोंका नहीं; क्योंकि जब स्वयं उन पदार्थोंको स्वीकार करता है, तभी वे महत्त्वशाली दीखते हैं। इसलिये भगवान् 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' पदोंसे शरीरादि पदार्थोंको अपनेसे भिन्न 'इदंता' से देखनेके लिये कह रहे हैं।

'एतद्यो वेत्ति'—जीवात्मा इस शरीरको जानता है अर्थात् यह शरीर मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, प्राण मेरे हैं—ऐसा मानता है। यह जीवात्मा इस शरीरको कभी 'मैं' कह देता है और कभी 'यह' कह देता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा भी मान लेता है और 'यह शरीर मेरा है'—ऐसा भी मान लेता है।

इस श्लोकके पूर्वार्धमें शरीरको 'इदम्' पदसे कहा है और उत्तरार्धमें शरीरको 'एतत्' पदसे कहा है। यद्यपि ये दोनों ही पद नजदीकके वाचक हैं, तथापि 'इदम्' की अपेक्षा 'एतत्' पद अत्यन्त नजदीकका वाचक है। अतः यहाँ 'इदम्' पद अंगुलिनिर्दिष्ट शरीर-समुदायका द्योतन करता है और 'एतत्' पद इस शरीरमें जो 'मैं'-पन है, उस मैं-पनका द्योतन करता है।

'तं प्राहुः क्षेत्रज्ञं इति तद्विदः'—जैसे दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें सत्-असत्के तत्त्वको जानने-वालोंको तत्त्वदर्शी कहा है, ऐसे ही यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वको जाननेवालोंको 'तद्विदः' कहा है। क्षेत्र क्या है और क्षेत्रज्ञ क्या है—इसका जिनको बोध हो चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञ

१-'शृ हिसायाम्' धातुसे 'शरीर' शब्द बनता है।

२-'क्षि क्षये' धातुसे 'क्षेत्र' शब्द बनता है।

३-यद्यपि 'प्राहुः' क्रियाका कर्म होनेसे 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये थी, तथापि आगे 'इति' पद आनेसे अर्थात् 'इति' पदसे उक्त होनेसे 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें प्रथमा विभक्ति हो गयी है।

महापुरुष इस जीवात्माको 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि क्षेत्रकी तरफ दृष्टि रहनेसे, क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही इस जीवात्माको वे ज्ञानी महापुरुष 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। अगर यह जीवात्मा क्षेत्रके साथ सम्बन्ध न रखे, तो फिर इसकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहेगी, यह परमात्मस्वरूप हो जायगा (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

### मार्मिक बात

यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहाँसे खोलनेपर ही (बन्धनसे) छुटकारा हो सकता है। अतः मनुष्यशरीरसे ही बन्धन होता है और मनुष्यशरीरके द्वारा ही बन्धनसे मुक्ति हो सकती है। अगर मनुष्यका अपने शरीरके साथ किसी प्रकारका भी अहंता-ममतारूप सम्बन्ध न रहे, तो वह मात्र संसारसे मुक्त ही है। अतः भगवान् शरीरके साथ माने हुए अहंता-ममतारूप सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये शरीरको 'क्षेत्र' बताकर उसको इदंता-(पृथक्ता-) से देखनेके लिये कह रहे हैं, जो कि वास्तवमें पृथक् है ही।

शरीरको इदंतासे देखना केवल अपना कल्याण चाहने-वाले साधकोंके लिये ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यमात्रके लिये परम आवश्यक है। कारण कि अपना उद्धार करनेका अधिकार और अवसर मनुष्यशरीरमें ही है। यही कारण है कि गीताका उपदेश आरम्भ करते ही भगवान्ने सबसे पहले शरीर और शरीरकी पृथक्ताका वर्णन किया है।

'इदम्' का अर्थ है—'यह' अर्थात् अपनेसे अलग दीखनेवाला। सबसे पहले देखनेमें आता है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशसे बना यह स्थूलशरीर। यह दृश्य है और परिवर्तनशील है। इसको देखनेवाले हैं—नेत्र। जैसे दृश्यमें रंग, आकृति, अवस्था, उपयोग आदि सभी बदलते रहते हैं, पर उनको देखनेवाले नेत्र एक ही रहते हैं, ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय भी बदलते रहते हैं, पर उनको जाननेवाले कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका एक ही रहते हैं। जैसे नेत्रोंसे ठीक दीखना, कम दीखना और बिलकुल न दीखना—ये नेत्रमें होनेवाले परिवर्तन मनके द्वारा जाने जाते हैं, ऐसे ही कान, त्वचा, जिह्वा और नासिकामें होनेवाले परिवर्तन भी मनके द्वारा जाने जाते हैं। अतः पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, त्वचा, नेत्र,

जिह्वा और नासिका) भी दृश्य हैं। कभी क्षुब्ध और कभी शान्त, कभी स्थिर और कभी चंचल—ये मनमें होनेवाले परिवर्तन बुद्धिके द्वारा जाने जाते हैं। अतः मन भी दृश्य है। कभी ठीक समझना, कभी कम समझना और कभी बिलकुल न समझना—ये बुद्धिमें होनेवाले परिवर्तन स्वयं-(जीवात्मा-) के द्वारा जाने जाते हैं। अतः बुद्धि भी दृश्य है। बुद्धि आदिके द्रष्टा स्वयं-(जीवात्मा-) में कभी परिवर्तन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव भी नहीं। वह सदा एकरस रहता है; अतः वह कभी किसीका दृश्य नहीं हो सकता\*।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको तो जान सकती हैं, पर विषय अपनेसे पर (सूक्ष्म, श्रेष्ठ और प्रकाशक) इन्द्रियोंको नहीं जान सकते। इसी तरह इन्द्रियाँ और विषय मनको नहीं जान सकते; मन, इन्द्रियाँ और विषय बुद्धिको नहीं जान सकते; तथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय स्वयंको नहीं जान सकते। न जाननेमें मुख्य कारण यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो सापेक्ष द्रष्टा हैं अर्थात् एक-दूसरेकी सहायतासे केवल अपनेसे स्थूल रूपको देखनेवाले हैं; किन्तु स्वयं (जीवात्मा) शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे अत्यन्त सूक्ष्म और श्रेष्ठ होनेके कारण निरपेक्ष द्रष्टा है अर्थात् दूसरे किसीकी सहायताके बिना खुद ही देखनेवाला है।

उपर्युक्त विवेचनमें यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको भी द्रष्टा कहा गया है, तथापि वहाँ भी यह समझ लेना चाहिये कि स्वयं-(जीवात्मा-) के साथ रहनेपर ही इनके द्वारा देखा जाना सम्भव होता है। कारण कि मन, बुद्धि आदि जड प्रकृतिका कार्य होनेसे स्वतन्त्र द्रष्टा नहीं हो सकते। अतः स्वयं ही वास्तविक द्रष्टा है। दृश्य पदार्थ (शरीर), देखनेकी शक्ति (नेत्र, मन, बुद्धि) और देखनेवाला (जीवात्मा)— इन तीनोंमें गुणोंकी भिन्नता होनेपर भी तात्त्विक एकता है। कारण कि तात्त्विक एकताके बिना देखनेका आकर्षण, देखनेकी सामर्थ्य और देखनेकी प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं होती। यहाँ यह शंका हो सकती है कि स्वयं (जीवात्मा) तो चेतन है, फिर वह जड बुद्धि आदिको (जिससे उसकी तात्त्विक एकता नहीं है।) कैसे देखता है? इसका समाधान यह है कि स्वयं जडसे तादात्म्य करके जडके सहित अपनेको 'मैं'

\* रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्। दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥ (वाक्यसुधा १)

'सर्वप्रथम नेत्र द्रष्टा हैं और रूप दृश्य है। फिर मन द्रष्टा है और नेत्रादि इन्द्रियाँ दृश्य हैं। फिर बुद्धि द्रष्टा है और मन दृश्य है। अन्तमें बुद्धिकी वृत्तियोंका भी जो द्रष्टा है, वह साक्षी (स्वयंप्रकाश आत्मा) किसीका भी दृश्य नहीं है।'

मान लेता है। यह 'मैं' न तो जड है और न चेतन ही है। जडमें विशेषता देखकर यह जडके साथ एक होकर कहता है कि 'मैं धनवान् हूँ; मैं विद्वान् हूँ' आदि; और चेतनमें विशेषता देखकर यह चेतनके साथ एक होकर कहता है कि 'मैं आत्मा हूँ; मैं ब्रह्म हूँ' आदि। यही प्रकृतिस्थ पुरुष है, जो प्रकृतिजन्य गुणोंके संगसे ऊँच-नीच योनियोंमें बार-बार जन्म लेता रहता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह निकला कि प्रकृतिस्थ पुरुषमें जड और चेतन—दोनों अंश विद्यमान हैं। चेतनकी रुचि परमात्माकी तरफ जानेकी है; किन्तु भूलसे उसने जडके साथ तादात्म्य कर लिया। तादात्म्यमें जो जड-अंश है, उसका आकर्षण

(प्रवृत्ति) जडताकी तरफ होनेसे वही सजातीयताके कारण जड बुद्धि आदिका द्रष्टा बनता है। यह नियम है कि देखना केवल सजातीयतामें ही सम्भव होता है अर्थात् दृश्य, दर्शन और द्रष्टाके एक ही जातिके होनेसे देखना होता है, अन्यथा नहीं। इस नियमसे यह पता लगता है कि स्वयं (जीवात्मा) जबतक बुद्धि आदिका द्रष्टा रहता है, तबतक उसमें बुद्धिकी जातिकी जड वस्तु है अर्थात् जड प्रकृतिके साथ उसका माना हुआ सम्बन्ध है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सब अनर्थोंका मूल है। इसी माने हुए सम्बन्धके कारण वह सम्पूर्ण जड प्रकृति अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, विषय, शरीर और पदार्थोंका द्रष्टा बनता है।

**परिशिष्ट भाव—'इदम्' (क्षेत्र) के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जितने भी शरीर हैं, उनमें 'परा' (जीव) क्षेत्रज्ञ है और 'अपरा' (जगत्) क्षेत्र है। जीव जगत्को जाननेवाला और परमात्माको माननेवाला है। जाननेवाला व्यापक होता है। अतः क्षेत्रज्ञके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं— 'येन सर्वमिदं ततम्' (गीता २।१७)। साधकको जानना चाहिये कि मैं क्षेत्र नहीं हूँ, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ हूँ।**

दृश्य द्रष्टाके किसी अंशमें होता है। जैसे, आँखसे सब कुछ देखनेपर भी आँख नहीं भरती। अतः वास्तवमें आँख दृश्यसे भी बड़ी हुई। बुद्धिसे कितनी ही बातें जान लें, पर बुद्धि कभी भरती नहीं, खाली ही रहती है। ज्यों भरते हैं, त्यों खाली होती है। अतः बुद्धि बड़ी हुई। ब्रह्माजीकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी हमारी बुद्धिके जाननेके अन्तर्गत हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण शरीर दृश्य हैं। ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण सृष्टि भी दृश्य है। यह सम्पूर्ण दृश्य द्रष्टा (क्षेत्रज्ञ)—के किसी अंशमें है।

जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनवान्' कहलाता है; किन्तु धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनवान् (व्यक्ति) तो रहता है, पर उसकी 'धनवान्' संज्ञा नहीं रहती। ऐसे ही क्षेत्रके सम्बन्धसे स्वयं 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है; किन्तु क्षेत्रका सम्बन्ध न रहनेपर क्षेत्रज्ञ (स्वयं) तो रहता है, पर उसकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहती। तात्पर्य है कि एक ही चिन्मय तत्त्व (समझनेकी दृष्टिसे) क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा, साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी और करणके सम्बन्धसे कर्ता कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

सम्बन्ध—उस क्षेत्रज्ञका स्वरूप क्या है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥**

भारत = हे भरतवंशोद्भव  
अर्जुन! (तू)  
सर्वक्षेत्रेषु = सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें  
क्षेत्रज्ञम् = क्षेत्रज्ञ  
माम् = मुझे

अपि = ही  
विद्धि = समझ  
च = और  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः = क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका  
यत् = जो

ज्ञानम् = ज्ञान है,  
तत् = वही  
मम = मेरे  
मतम् = मतमें  
ज्ञानम् = ज्ञान है।

व्याख्या—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'— सम्पूर्ण क्षेत्रों—(शरीरों—)में 'मैं हूँ'—ऐसा जो अहंभाव है, उसमें 'मैं' तो क्षेत्र है (जिसको पूर्वश्लोकमें 'एतत्' कहा

है) और 'हूँ' मैं—पनका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है (जिसको पूर्वश्लोकमें 'वेत्ति' पदसे जाननेवाला कहा है)। 'मैं' का सम्बन्ध होनेसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' का सम्बन्ध

न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। कारण कि 'है' ही 'मैं' के साथ सम्बन्ध होनेसे 'हूँ' कहा जाता है। अतः वास्तवमें क्षेत्रज्ञ-( 'हूँ'-) की परमात्मा-( 'है'-) के साथ एकता है। इसी बातको भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें मेरेको ही क्षेत्रज्ञ समझो।

मनुष्य किसी विषयको जानता है, तो वह जाननेमें आनेवाला विषय 'ज्ञेय' कहलाता है। उस ज्ञेयको वह किसी करणके द्वारा ही जानता है। करण दो तरहका होता है—बहिःकरण और अन्तःकरण। मनुष्य विषयोंको बहिःकरण-( श्रोत्र, नेत्र आदि-) से जानता है और बहिःकरणको अन्तःकरण-(मन, बुद्धि आदि-) से जानता है। उस अन्तःकरणकी चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन चारोंमें भी अहंकार सबसे सूक्ष्म है, जो कि एकदेशीय है। यह अहंकार भी जिससे देखा जाता है, जाना जाता है, वह जाननेवाला प्रकाशस्वरूप क्षेत्रज्ञ है। उस अहंभावके भी ज्ञाता क्षेत्रज्ञको साक्षात् मेरा स्वरूप समझो।

यहाँ 'विद्धि' पद कहनेका तात्पर्य है कि हे अर्जुन! जैसे तू अपनेको शरीरमें मानता है और शरीरको अपना मानता है, ऐसे ही तू अपनेको मेरेमें जान (मान) और मेरेको अपना मान। कारण कि तुमने शरीरके साथ जो एकता मान रखी है, उसको छोड़नेके लिये मेरे साथ एकता माननी बहुत आवश्यक है।

जैसे यहाँ भगवान्ने 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' पदोंसे क्षेत्रज्ञकी अपने साथ एकता बतायी है, ऐसे ही गीतामें अन्य जगह भी एकता बतायी है; जैसे—दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्ने शरीर-(क्षेत्रज्ञ-)के लिये कहा कि 'जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसको तुम अविनाशी समझो'—'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें अपने लिये कहा कि 'मेरेसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है'—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।' यहाँ तो भगवान्ने क्षेत्रज्ञ-(अंश-) की अपने (अंशीके) साथ एकता बतायी है और आगे इसी अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें शरीर-संसार-(कार्य-) की प्रकृति-(कारण-) के साथ एकता बतायेंगे। तात्पर्य है कि शरीर तो प्रकृतिका अंश है, इसलिये तुम इससे सर्वथा विमुख हो जाओ; और तुम मेरे अंश हो, इसलिये तुम मेरे सम्मुख हो जाओ।

शरीरकी संसारके साथ स्वाभाविक एकता है। परन्तु यह जीव शरीरको संसारसे अलग मानकर उसके साथ ही

अपनी एकता मान लेता है। परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञकी स्वाभाविक एकता होते हुए भी शरीरके साथ एकता माननेसे यह अपनेको परमात्मासे अलग मानता है। शरीरको संसारसे अलग मानना और अपनेको परमात्मासे अलग मानना—ये दोनों ही गलत मान्यताएँ हैं। अतः भगवान् यहाँ 'विद्धि' पदसे आज्ञा देते हैं कि क्षेत्रज्ञ मेरे साथ एक है, ऐसा समझो। तात्पर्य है कि तुमने जहाँ शरीरके साथ अपनी एकता मान रखी है, वहीं मेरे साथ अपनी एकता मान लो, जो कि वास्तवमें है।

शास्त्रोंमें प्रकृति, जीव और परमात्मा—इन तीनोंका अलग-अलग वर्णन आता है; परन्तु यहाँ 'अपि' पदसे भगवान् एक विलक्षण भावकी ओर लक्ष्य करते हैं कि शास्त्रोंमें परमात्माके जिस सर्वव्यापक स्वरूपका वर्णन हुआ है, वह तो मैं हूँ ही, इसके साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक् दीखनेवाला भी मैं ही हूँ। अतः प्रस्तुत पदोंका यही भाव है कि क्षेत्रज्ञरूपसे परमात्मा ही है—ऐसा जानकर साधक मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव करे।

स्वयं संसारसे भिन्न और परमात्मासे अभिन्न है। इसलिये यह नियम है कि संसारका ज्ञान तभी होता है, जब उससे सर्वथा भिन्नताका अनुभव किया जाय। तात्पर्य है कि संसारसे रागरहित होकर ही संसारके वास्तविक स्वरूपको जाना जा सकता है। परन्तु परमात्माका ज्ञान उनसे अभिन्न होनेसे ही होता है। इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करानेके लिये भगवान् क्षेत्रज्ञके साथ अपनी अभिन्नता बता रहे हैं। इस अभिन्नताको यथार्थरूपसे जाननेपर परमात्माका वास्तविक ज्ञान हो जाता है।

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम'— क्षेत्र-(शरीर-)की सम्पूर्ण संसारके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-) की मेरे साथ एकता है—ऐसा जो क्षेत्रक्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही मेरे मतमें यथार्थ 'ज्ञान' है।

'मतं मम' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें अनेक विद्याओंका, अनेक भाषाओंका, अनेक लिपियोंका, अनेक कलाओंका, तीनों लोक और चौदह भुवनोंका जो ज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। कारण कि वह ज्ञान सांसारिक व्यवहारमें काममें आनेवाला होते हुए भी संसारमें फँसाने-वाला होनेसे अज्ञान ही है। वास्तविक ज्ञान तो वही है, जिससे स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और फिर संसारमें जन्म न हो, संसारकी परतन्त्रता न हो। यही ज्ञान भगवान्के मतमें यथार्थ ज्ञान है।

**परिशिष्ट भाव**—क्षेत्रज्ञ (जीव) और ब्रह्म एक ही हैं। एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वह 'क्षेत्रज्ञ' है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वह 'ब्रह्म' है।

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि शरीर (क्षेत्र)-की अनन्त ब्रह्माण्डों (सृष्टिमात्र)-के साथ एकता है और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं (क्षेत्रज्ञ)-की अनन्त-अपार-असीम परमात्माके साथ एकता है। अतः हमारेसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। तात्पर्य है कि शरीर और संसार एक हैं तथा स्वयं और परमात्मा एक हैं (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। यही ज्ञान है।

ब्रह्मके लिये 'माम्' कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं— 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (गीता ९।४) 'यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है'। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण चेतन है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका मालिक है, वह ईश्वर है।

**सम्बन्ध**—पूर्वश्लोकमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानको ही अपने मतमें ज्ञान बताकर अब भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको सुननेकी आज्ञा देते हैं।

**तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।  
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥**

तत्	= वह	च	= और	च	= और
क्षेत्रम्	= क्षेत्र	यतः	= जिससे	यत्प्रभावः	= जिस प्रभाववाला
यत्	= जो है	यत्	= जो		है,
च	= और		(पैदा हुआ है)	तत्	= वह सब
यादृक्	= जैसा है	च	= तथा	समासेन	= संक्षेपमें
च	= तथा	सः	= वह क्षेत्रज्ञ (भी)	मे	= मुझसे
यद्विकारि	= जिन विकारोंवाला है	यः	= जो है	शृणु	= सुन।

**व्याख्या**—'तत्क्षेत्रम्'—'तत्' शब्द दोका वाचक होता है—पहले कहे हुए विषयका और दूरीका। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें जिसको 'इदम्' पदसे कहा गया है, उसीको यहाँ 'तत्' पदसे कहा है। क्षेत्र सब देशमें नहीं है, सब कालमें नहीं है और अभी भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है—यह क्षेत्रकी (स्वयंसे) दूरी है।

'यच्च'—उस क्षेत्रका जो स्वरूप है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें हुआ है।

'यादृक् च'—उस क्षेत्रका जैसा स्वभाव है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें उसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाला बताकर किया गया है।

'यद्विकारि'—यद्यपि प्रकृतिका कार्य होनेसे इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें आये तेईस तत्त्वोंको भी विकार कहा गया है, तथापि यहाँ उपर्युक्त पदसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके माने हुए सम्बन्धके कारण क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इच्छा-द्वेषादि

विकारोंको ही विकार कहा गया है, जिनका वर्णन छठे श्लोकमें हुआ है।

'यतश्च यत्'—यह क्षेत्र जिससे पैदा होता है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सात विकार और तीन गुण, जिनका वर्णन इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें हुआ है।

'स च'—पहले श्लोकके उत्तरार्धमें जिस क्षेत्रज्ञका वर्णन हुआ है, उसी क्षेत्रज्ञका वाचक यहाँ 'सः' पद है और उसीके विषयमें यहाँ सुननेके लिये कहा जा रहा है।

'यः'—इस क्षेत्रज्ञका जो स्वरूप है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें और बाईसवें श्लोकमें किया गया है।

'यत्प्रभावश्च'—वह क्षेत्रज्ञ जिस प्रभाववाला है; जिसका वर्णन इसी अध्यायके इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक किया गया है।

'तत्समासेन मे शृणु'—यहाँ 'तत्' पदके अन्तर्गत

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दोनोंको लेना चाहिये। तात्पर्य है कि वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला और जिससे पैदा हुआ है—इस तरह क्षेत्रके विषयमें चार बातें और वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है—इस तरह क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें तू मेरेसे संक्षेपमें सुन।

यद्यपि इस अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सूत्ररूपसे वर्णन हुआ है, जिसको भगवान्ने 'ज्ञान' भी कहा है तथापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका स्पष्टरूपसे विवेचन (विकारसहित क्षेत्र और निर्विकार क्षेत्रज्ञके स्वरूपका प्रभावसहित विवेचन) इस तीसरे श्लोकसे आरम्भ किया गया है। इसलिये भगवान् इसको सावधान होकर सुननेकी आज्ञा देते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रके विषयमें तो चार बातें सुननेकी आज्ञा दी है, पर क्षेत्रज्ञके विषयमें केवल दो बातें—स्वरूप और प्रभाव ही सुननेकी आज्ञा दी है। इससे यह शंका हो सकती है कि क्षेत्रका प्रभाव भी क्यों नहीं कहा गया और साथ ही क्षेत्रज्ञके स्वभाव, विकार और

जिससे जो पैदा हुआ—इन विषयोंपर भी क्यों नहीं कहा गया? इसका समाधान यह है कि एक क्षण भी एक रूपमें स्थिर न रहनेवाले क्षेत्रका प्रभाव हो ही क्या सकता है? प्रकृतिस्थ (संसारी) पुरुषके अन्तःकरणमें धनादि जड पदार्थोंका महत्त्व रहता है, इसीलिये उसको संसारमें क्षेत्रका (धनादि जड पदार्थोंका) प्रभाव दीखता है। वास्तवमें स्वतन्त्ररूपसे क्षेत्रका कुछ भी प्रभाव नहीं है। अतः उसके प्रभावका कोई वर्णन नहीं किया गया।

क्षेत्रज्ञका स्वरूप उत्पत्ति-विनाशरहित है, इसलिये उसका स्वभाव भी उत्पत्ति-विनाशरहित है। अतः भगवान्ने उसके स्वभावका अलगसे वर्णन न करके स्वरूपके अन्तर्गत ही कर दिया। क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही क्षेत्रज्ञमें इच्छा-द्वेषादि विकारोंकी प्रतीति होती है, अन्यथा क्षेत्रज्ञ (स्वरूपतः) सर्वथा निर्विकार ही है। अतः निर्विकार क्षेत्रज्ञके विकारोंका वर्णन सम्भव ही नहीं। क्षेत्रज्ञ अद्वितीय, अनादि और नित्य है। अतः इसके विषयमें 'कौन किससे पैदा हुआ'—यह प्रश्न ही नहीं बनता।

**परिशिष्ट भाव**—भगवान्के द्वारा 'तत्समासेन मे शृणु' कहनेका तात्पर्य है कि साधकके लिये ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। ज्यादा जाननेमें समय तो ज्यादा खर्च होगा, पर साधन कम होगा।

*सम्बन्ध*—पूर्वश्लोकमें जिसको संक्षेपसे सुननेके लिये कहा गया है, उसका विस्तारसे वर्णन कहाँ हुआ है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।**

**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव**

**हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥**

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व—

<b>ऋषिभिः</b>	= ऋषियोंके द्वारा	<b>विविधैः</b>	= बहुत प्रकारसे	<b>विनिश्चितैः</b>	= निश्चित किये
<b>बहुधा</b>	= बहुत विस्तारसे	<b>पृथक्</b>	= विभागपूर्वक (कहा गया है)		हुए
<b>गीतम्</b>	= कहा गया है (तथा)	<b>च</b>	= और	<b>ब्रह्मसूत्रपदैः</b>	= ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा
<b>छन्दोभिः</b>	= वेदोंकी ऋचाओंद्वारा	<b>हेतुमद्भिः</b>	= युक्तियुक्त (एवं)	<b>एव</b>	= भी (कहा गया है)।

*व्याख्या*—'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्'—वैदिक मन्त्रोंके द्रष्टा तथा शास्त्रों, स्मृतियों और पुराणोंके रचयिता ऋषियोंने अपने-अपने (शास्त्र, स्मृति आदि) ग्रन्थोंमें जड-चेतन, सत्-असत्, शरीर-शरीरी, देह-देही, नित्य-अनित्य आदि शब्दोंसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका बहुत विस्तारसे वर्णन किया है।

'छन्दोभिर्विविधैः पृथक्'—यहाँ 'विविधैः'

विशेषणसहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' भागोंके मन्त्रोंका वाचक है। इन्हींके अन्तर्गत सम्पूर्ण उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी समझ लेना चाहिये। इनमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अलग-अलग वर्णन किया गया है।

'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'—अनेक

युक्तियोंसे युक्त तथा अच्छी तरहसे निश्चित किये हुए ब्रह्म-सूत्रके पदोंद्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वका वर्णन किया गया है। इस श्लोकमें भगवान्का आशय यह मालूम देता है कि

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो संक्षेपसे वर्णन मैं कर रहा हूँ, उसे अगर कोई विस्तारसे देखना चाहे तो वह उपर्युक्त ग्रन्थोंमें देख सकता है।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें जिन छः बातोंको संक्षेपसे सुननेकी आज्ञा दी थी, उनमेंसे क्षेत्रकी दो बातोंका अर्थात् उसके स्वरूप और विकारोंका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

## महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

अव्यक्तम्	= मूल प्रकृति	च	= और	इन्द्रिय-	
च	= और	दश	= दस	गोचराः	= इन्द्रियोंके
बुद्धिः	= समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व),	इन्द्रियाणि	= इन्द्रियाँ,		= पाँच विषय—
अहङ्कारः	= समष्टि अहंकार,	एकम्	= एक मन	एव	= यही (चौबीस
महाभूतानि	= पाँच महाभूत	च	= तथा		तत्त्वोंवाला
		पञ्च	= पाँचों		क्षेत्र है।)

व्याख्या—‘अव्यक्तमेव च’—अव्यक्त नाम मूल प्रकृतिका है। मूल प्रकृति समष्टि बुद्धिका कारण होनेसे और स्वयं किसीका भी कार्य न होनेसे केवल ‘प्रकृति’ ही है।

‘बुद्धिः’—यह पद समष्टि बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्वका वाचक है। इस बुद्धिसे अहंकार पैदा होता है, इसलिये यह ‘प्रकृति’ है और मूल प्रकृतिका कार्य होनेसे यह ‘विकृति’ है। तात्पर्य है कि यह बुद्धि ‘प्रकृति-विकृति’ है।

‘अहंकारः’—यह पद समष्टि अहंकारका वाचक है। इसको अहंभाव भी कहते हैं। पंचमहाभूतका कारण होनेसे यह अहंकार ‘प्रकृति’ है और बुद्धिका कार्य होनेसे यह ‘विकृति’ है। तात्पर्य है कि यह अहंकार ‘प्रकृति-विकृति’ है।

‘महाभूतानि’—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। महाभूत दो प्रकारके होते हैं—पंचीकृत और अपंचीकृत। एक-एक महाभूतके पाँच विभाग होकर जो मिश्रण होता है, उसको ‘पंचीकृत महाभूत’ कहते हैं\*।

इन पाँच महाभूतोंके विभाग न होनेपर इनको ‘अपंचीकृत महाभूत’ कहते हैं। यहाँ इन्हीं अपंचीकृत महाभूतोंका वाचक ‘महाभूतानि’ पद है। इन महाभूतोंको ‘पंचतन्मात्राएँ’ तथा ‘सूक्ष्ममहाभूत’ भी कहते हैं।

दस इन्द्रियाँ, एक मन और शब्दादि पाँच विषयोंके कारण होनेसे ये महाभूत ‘प्रकृति’ हैं और अहंकारके कार्य होनेसे ये ‘विकृति’ हैं। तात्पर्य है कि ये पंचमहाभूत ‘प्रकृति-विकृति’ हैं।

‘इन्द्रियाणि दश’—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये दसों इन्द्रियाँ अपंचीकृत महाभूतोंसे पैदा होनेसे और स्वयं किसीका भी कारण न होनेसे केवल ‘विकृति’ ही हैं।

‘एकं च’—अपंचीकृत महाभूतोंसे पैदा होनेसे और स्वयं किसीका भी कारण न होनेसे मन केवल ‘विकृति’ ही है।

\* आकाशके दो विभाग हैं, जिनमेंसे आधा भाग आकाश अपने स्वरूपसे रहा और दूसरे आधे भागके चार विभाग किये। उनमेंसे उसने एक भाग वायुको, एक भाग तेजको, एक भाग जलको और एक भाग पृथ्वीको दिया। वायुके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग वायु अपने स्वरूपसे रही और दूसरे आधे भागके चार विभाग किये, जिनको क्रमशः आकाश, तेज, जल और पृथ्वीको दिया। तेजके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग तेज अपने स्वरूपसे रहा और दूसरे आधे भागके चार विभाग करके क्रमशः एक-एक भाग आकाश, वायु, जल और पृथ्वीको दिया। जलके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग जल अपने स्वरूपसे रहा और दूसरे आधे भागके चार विभाग करके क्रमशः एक-एक भाग आकाश, वायु, तेज और पृथ्वीको दिया। ऐसे ही पृथ्वीके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग पृथ्वी अपने स्वरूपसे रही और दूसरे आधे भागके चार विभाग करके क्रमशः एक-एक भाग आकाश, वायु, तेज और जलको दिया। इस तरह पाँचों महाभूतोंका पंचीकरण—मिश्रण होनेसे इसको ‘पंचीकृत महाभूत’ कहते हैं।



‘पंच चेन्द्रियगोचराः’—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये (पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके) पाँच विषय हैं। अपंचीकृत महाभूतोंसे पैदा होनेसे और स्वयं किसीके भी कारण न होनेसे ये पाँचों विषय केवल ‘विकृति’ ही हैं।

इन सबका निष्कर्ष यह निकला कि पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धि—ये सात ‘प्रकृति-विकृति’

हैं, मूल प्रकृति केवल ‘प्रकृति’ है और दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय—ये सोलह केवल ‘विकृति’ हैं। इस तरह इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायका नाम ‘क्षेत्र’ है। इसीका एक तुच्छ अंश यह मनुष्य-शरीर है, जिसको भगवान्ने पहले श्लोकमें ‘इदं शरीरम्’ और तीसरे श्लोकमें ‘तत्क्षेत्रम्’ पदसे कहा है।

## इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।

### एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा = इच्छा,  
द्वेषः = द्वेष,  
सुखम् = सुख,  
दुःखम् = दुःख,  
सङ्घातः = संघात (शरीर)

चेतना = चेतना (प्राणशक्ति)  
(और)  
धृतिः = धृति—  
सविकारम् = इन विकारों-  
सहित

एतत् = यह  
क्षेत्रम् = क्षेत्र  
समासेन = संक्षेपसे  
उदाहृतम् = कहा  
गया है।

व्याख्या—‘इच्छा’—अमुक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि मिले—ऐसी जो मनमें चाहना रहती है, उसको इच्छा कहते हैं। क्षेत्रके विकारोंमें भगवान् सबसे पहले इच्छारूप विकारका नाम लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इच्छा मूल विकार है; क्योंकि ऐसा कोई पाप और दुःख नहीं है, जो सांसारिक इच्छाओंसे पैदा न होता हो अर्थात् सम्पूर्ण पाप और दुःख सांसारिक इच्छाओंसे ही पैदा होते हैं।

‘द्वेषः’—कामना और अभिमानमें बाधा लगनेपर क्रोध पैदा होता है। अन्तःकरणमें उस क्रोधका जो सूक्ष्म रूप रहता है, उसको ‘द्वेष’ कहते हैं। यहाँ ‘द्वेषः’ पदके अन्तर्गत क्रोधको भी समझ लेना चाहिये।

‘सुखम्’—अनुकूलताके आनेपर मनमें जो प्रसन्नता होती है अर्थात् अनुकूल परिस्थिति जो मनको सुहाती है, उसको ‘सुख’ कहते हैं।

‘दुःखम्’—प्रतिकूलताके आनेपर मनमें जो हलचल होती है अर्थात् प्रतिकूल परिस्थिति जो मनको सुहाती नहीं है, उसको ‘दुःख’ कहते हैं।

‘सङ्घातः’—चौबीस तत्त्वोंसे बने हुए शरीररूप समूहका नाम ‘संघात’ है। शरीरका उत्पन्न होकर सत्तारूपसे दीखना भी विकार है तथा उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहना भी विकार है।

‘चेतना’—चेतना नाम प्राणशक्तिका है अर्थात् शरीरमें जो प्राण चल रहे हैं, उसका नाम ‘चेतना’ है। इस चेतनामें परिवर्तन होता रहता है, जैसे—सात्त्विक-वृत्ति आनेपर

प्राणशक्ति शान्त रहती है और चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि होनेपर प्राणशक्ति वैसी शान्त नहीं रहती, क्षुब्ध हो जाती है। यह प्राणशक्ति निरन्तर नष्ट होती रहती है। अतः यह भी विकाररूप ही है।

साधारण लोग प्राणवालोंको चेतन और निष्प्राण-वालोंको अचेतन कहते हैं, इस दृष्टिसे यहाँ प्राणशक्तिको ‘चेतना’ कहा गया है।

‘धृतिः’—धृति नाम धारणशक्तिका है। यह धृति भी बदलती रहती है। मनुष्य कभी धैर्यको धारण करता है और कभी (प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर) धैर्यको छोड़ देता है। कभी धैर्य ज्यादा रहता है और कभी धैर्य कम रहता है। मनुष्य कभी अच्छी बातको धारण करता है और कभी विपरीत बातको धारण करता है। अतः धृति भी क्षेत्रका विकार है।

[अठारहवें अध्यायके तैंतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक धृतिके सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन तीन भेदोंका वर्णन किया गया है। परमात्माकी तरफ चलनेमें सात्त्विकी धृतिकी बड़ी आवश्यकता है।]

‘एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्’—जैसे पहले श्लोकमें ‘इदं शरीरम्’ कहकर व्यष्टि शरीरसे अपनेको अलग देखनेके लिये कहा, ऐसे ही दृश्य-(क्षेत्र और उसमें होनेवाले विकार-) से द्रष्टाको अलग दिखानेके लिये यहाँ ‘एतत्’ पद आया है।

पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने समष्टि संसारका वर्णन किया और यहाँ छठे श्लोकमें व्यष्टि शरीरके विकारोंका वर्णन

किया; क्योंकि समष्टि संसारमें इच्छा-द्वेषादि विकार होते ही नहीं। तात्पर्य यह है कि व्यष्टि शरीर समष्टि संसारसे और समष्टि संसार व्यष्टि शरीरसे अलग नहीं है अर्थात् ये दोनों एक हैं। जैसे इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रज्ञके साथ अपनी एकता बतायी, ऐसे ही यहाँ व्यष्टि शरीर और उसमें होनेवाले विकारोंकी समष्टि संसारके साथ एकता बताते हैं। आगे इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्ने पुरुषकी स्थिति शरीरमें न बताकर प्रकृतिमें बतायी है—‘**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि ।**’ इससे भी सिद्ध होता है कि पुरुषकी स्थिति (सम्बन्ध) व्यष्टि शरीरमें हो जानेसे उसकी स्थिति समष्टि प्रकृतिमें हो जाती है; क्योंकि व्यष्टि शरीर और समष्टि प्रकृति—दोनों एक ही हैं। वास्तवमें देखा जाय तो व्यष्टि है ही नहीं, केवल समष्टि ही है। व्यष्टि केवल भूलसे मानी हुई है। जैसे समुद्रकी लहरोंको समुद्रसे अलग मानना भूल है, ऐसे ही व्यष्टि शरीरको समष्टि संसारसे अलग (अपना) मानना भूल ही है।

### विशेष बात

क्षेत्रज्ञ जब अविवेकसे क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब क्षेत्रमें इच्छा-द्वेषादि विकार पैदा हो जाते हैं। क्षेत्रज्ञका वास्तविक स्वरूप तो सर्वथा निर्विकार ही है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे पैदा होनेवाले विकार सर्वथा मिटाये जा सकते हैं; क्योंकि क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ संयोग केवल माना हुआ है। इस माने हुए संयोगको मिटानेके लिये भगवान् इस अध्यायके पहले श्लोकमें शरीरको अपनेसे पृथक् देखनेके लिये और फिर दूसरे श्लोकमें परमात्मासे

अपने नित्यसंयोग- (एकता-) का अनुभव करनेके लिये कहते हैं। ऐसा अनुभव होनेपर क्षेत्रके साथ मानी हुई एकताका सर्वथा अभाव हो जाता है और फिर विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकते।

बोध होनेपर अर्थात् क्षेत्र-(शरीर-) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ‘इच्छा’ और ‘द्वेष’ सदाके लिये सर्वथा मिट जाते हैं। ‘सुख’ और ‘दुःख’ अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान तो होता है, पर उससे अन्तःकरणमें कोई विकार पैदा नहीं होता अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्त महापुरुष सुखी-दुःखी नहीं होता। सुख-दुःखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसका असर पड़ना (विकार होना) दोषी है\*।

जीवन्मुक्त महापुरुषका ‘संघात’ अर्थात् शरीरसे किंचिन्मात्र भी मैं-मेरेपनका सम्बन्ध न रहनेके कारण उसका कहा जानेवाला शरीर यद्यपि महान् पवित्र हो जाता है, तथापि प्रारब्धके अनुसार उसका यह शरीर रहता ही है। जबतक शरीर रहता है, तबतक ‘चेतना’ (प्राणशक्ति) भी रहती है। परिश्रम होनेपर उसमें चंचलता आती है, नहीं तो वह शान्त रहती है। साधनावस्थामें जो सात्त्विकी ‘धृति’ थी, वह बोध होनेपर भी रहती है। परन्तु अन्तःकरणसे तादात्म्य न रहनेसे तत्त्वज्ञ महापुरुषका ‘चेतना’ और ‘धृति’-रूप विकारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

तात्पर्य यह हुआ कि शरीरके साथ तादात्म्य होनेसे जो विकार होते हैं, वे विकार बोध होनेपर नहीं होते। संघात, चेतना और धृति-रूप विकारोंके रहनेपर भी उनका स्वयंपर कुछ भी असर नहीं पड़ता।

**परिशिष्ट भाव**—क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं—‘**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**’ (१३।२०)। इच्छा-द्वेषादि सभी विकार तादात्म्य (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) में हैं। तादात्म्यमें भी ये विकार जड़-अंशमें रहते हैं।

यहाँ भगवान्ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको ‘**एतत्**’ (यह) कहा है—‘**एतत्क्षेत्रम्**’। इसका तात्पर्य है कि स्वयं क्षेत्रसे मिला हुआ नहीं है, प्रत्युत सर्वथा अलग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर ‘**एतत्**’ पदके अन्तर्गत होनेसे हमारा स्वरूप नहीं है। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण ‘महत्तत्त्व’ और ‘मूल प्रकृति’ को भी ‘**एतत्**’ शब्दसे कह दिया तो फिर अहंकारके ‘**एतत्**’ होनेमें कहना ही क्या है। अहम्से नजदीक महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे नजदीक प्रकृति है, वह प्रकृति भी ‘**एतत् क्षेत्रम्**’ में है। तात्पर्य है कि अहम् हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो मनुष्य स्वयंको और अहम् (क्षेत्र) को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता—तेरहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

\* ज्ञान किसीका भी दोषी नहीं होता; जैसे— भोजन करते समय जीभमें स्वादका ज्ञान होना दोष नहीं है, प्रत्युत भोजनके पदार्थमें राग या द्वेष होना दोष है।

सम्बन्ध—शरीरके साथ तादात्म्य कर लेनेसे ही इच्छा, द्वेष आदि विकार पैदा होते हैं और उन विकारोंका स्वयंपर असर पड़ता है। इसलिये भगवान् शरीरके साथ किये हुए तादात्म्यको मिटानेके लिये आवश्यक बीस साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे आगेके पाँच श्लोकोंमें वर्णन करते हैं।

## अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अमानित्वम्	= अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना,	क्षान्तिः	= क्षमा,	स्थैर्यम्	= स्थिरता (और)
अदम्भित्वम्	= दिखावटीपन न होना,	आर्जवम्	= सरलता,	आत्म-	
अहिंसा	= अहिंसा,	आचार्योपासनम्	= गुरुकी सेवा,	विनिग्रहः	= मनका वशमें होना।
		शौचम्	= बाहर-भीतरकी शुद्धि,		

व्याख्या—'अमानित्वम्'—अपनेमें मानीपनके अभावका नाम 'अमानित्व' है। वर्ण, आश्रम, योग्यता, विद्या, गुण, पद आदिको लेकर अपनेमें श्रेष्ठताका भाव होता है कि 'मैं मान्य हूँ, आदरणीय हूँ,' परन्तु यह भाव उत्पत्ति-विनाशशील शरीरके साथ तादात्म्य होनेसे ही होता है। अतः इसमें जडताकी ही मुख्यता रहती है। इस मानीपनके रहनेसे साधकको वास्तविक ज्ञान नहीं होता। यह मानीपन साधकमें जितना कम रहेगा, उतना ही जडताका महत्त्व कम होगा। जडताका महत्त्व जितना कम होगा, जडताको लेकर अपनेमें मानीपनका भाव भी उतना ही कम होगा, और साधक उतना ही चिन्मयताकी तरफ तेजीसे लगेगा।

उपाय—जब साधक खुद बड़ा बन जाता है, तब उसमें मानीपन आ जाता है। अतः साधकको चाहिये कि जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, साधनमें अपनेसे बड़े हैं, तत्त्वज्ञ (जीवन्मुक्त) हैं, उनका संग करे, उनके पासमें रहे, उनके अनुकूल बन जाय। इससे मानीपन दूर हो जाता है। इतना ही नहीं, उनके संगसे बहुत-से दोष सुगमतापूर्वक दूर हो जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—'सबहि मानप्रद आपु अमानी' (मानस ७।३८।२) अर्थात् संत सभीको मान देनेवाले और स्वयं अमानी—मान पानेकी इच्छासे रहित होते हैं। इसी तरह साधकको भी मानीपन दूर करनेके लिये सदा दूसरोंको मान, आदर, सत्कार, बड़ाई आदि देनेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसा स्वभाव तभी बन सकता है, जब वह दूसरोंको किसी-न-किसी दृष्टिसे अपनेसे श्रेष्ठ माने। यह नियम है कि प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न स्थितिवाला होते हुए भी कोई-न-कोई विशेषता रखता ही है। यह विशेषता वर्ण, आश्रम, गुण, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदि किसी भी कारणसे हो

सकती है। अतः साधकको चाहिये कि वह दूसरोंकी विशेषताकी तरफ दृष्टि रखकर उनका सदा सम्मान करे। इस प्रकार दूसरोंको मान देनेका भीतरसे स्वभाव बन जानेसे स्वयं मान पानेकी इच्छाका स्वतः अभाव होता चला जाता है। हाँ, दूसरोंको मान देते समय साधकका उद्देश्य अपनेमें मानीपन मिटानेका होना चाहिये, बदलेमें दूसरोंसे मान पानेका नहीं।

### विशेष बात

गीतामें भगवान्ने भक्तिमार्गके साधकमें सबसे पहले भयका अभाव बताया है—'अभयम्' (१६।१), और अन्तमें मानीपनका अभाव बताया है—'नातिमानिता' (१६।३)। परन्तु ज्ञानमार्गके साधनमें मानीपनका अभाव सबसे पहले बताया है—'अमानित्वम्' (१३।७) और भयका अभाव सबसे अन्तमें बताया है—'तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्' (१३।११)। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे बालक अपनी माँको देखकर अभय हो जाता है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें साधक प्रह्लादजीकी तरह आरम्भसे ही सब जगह अपने प्रभुको ही देखता है, इसलिये वह आरम्भमें ही अभय हो जाता है। भक्तमें स्वयं अमानी रहकर दूसरोंको मान देनेकी आदत शुरूसे ही रहती है। अन्तमें उसका देहाध्यास अर्थात् शरीरसे मानी हुई एकता अपने-आप मिट जाती है, तो वह सर्वथा अमानी हो जाता है। परन्तु ज्ञानमार्गमें साधक आरम्भसे ही शरीरके साथ अपनी एकता नहीं मानता (इसी अध्यायका पहला श्लोक), इसलिये वह आरम्भमें ही अमानी हो जाता है; क्योंकि शरीरसे एकता माननेसे ही मानीपन आता है। अन्तमें वह तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखकर अभय हो जाता है।

'अदम्भित्वम्'—दम्भ नाम दिखावटीपनका है। लोग हमारेमें अच्छे गुण देखेंगे तो वे हमारा आदर करेंगे, हमें

माला पहनायेंगे, हमारी पूजा करेंगे, हमें ऊँचे आसनपर बैठायेंगे आदिको लेकर अपनेमें वैसा गुण न होनेपर भी गुण दिखाना, अपनेमें गुण कम होनेपर भी उसे बाहरसे ज्यादा प्रकट करना—यह सब दम्भ है।

अपनेमें सदाचार है, शुद्धि है, पवित्रता है, पर अगर लोगोंके सामने हम पवित्रता रखेंगे तो वे हमारी हँसी उड़ायेंगे, हमारी निन्दा करेंगे—ऐसा सोचकर अपनी पवित्रता छोड़ देना और सामनेवालेकी तरह बन जाना भी दम्भ है। जैसे, आजकल विवाह आदिके अवसरोंपर, क्लबों-होटलोंके स्वागत-समारोहोंमें अथवा वायुयान आदिपर यात्रा करते समय पवित्र आचरणवाले सज्जन भी मान-सत्कार आदिके लिये अपवित्र खाद्य पदार्थ लेते देखे जाते हैं। यह भी दम्भ ही है। इसी तरह दुराचारी पुरुष भी अच्छे लोगोंके समुदायमें आनेपर मान, सत्कार, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्तिकी इच्छासे अपनेको बाहरसे धर्मात्मा, भक्त, सेवक, दानी आदि प्रकट करने लगते हैं, तो यह भी दम्भ ही है।

कोई साधक एकान्तमें, बंद कमरेमें बैठकर जप, ध्यान, चिन्तन कर रहा है और साथमें आलस्य, नींद भी ले रहा है। परन्तु जब बाहरसे उसपर श्रद्धा, पूज्यभाव रखनेवाले आदमीकी आवाज आती है, तब उस आवाजको सुनते ही वह सावधान होकर जप-ध्यान करने लग जाता है और उसके नींद-आलस्य भाग जाते हैं। यह भी एक सूक्ष्म दम्भ है। इसमें भी देखा जाय तो आवाज सुनकर सावधान हो जाना कोई दोष नहीं है, पर उसमें जो दिखावटीपनका भाव आ जाता है कि यह आदमी मेरेमें अश्रद्धा न कर ले, यह भाव आना दोष है। इस भावके स्थानपर ऐसा भाव आना चाहिये कि भगवान्ने बड़ा अच्छा किया कि मेरेको सावधान करके जप-ध्यानमें लगा दिया। इन सब प्रकारके दम्भोंका अभाव होना 'अदम्भित्व' है।

'उपाय'—साधकको अपना उद्देश्य एकमात्र परमात्म-प्राप्तिका ही रखना चाहिये, लोगोंको दिखानेका किंचिन्मात्र भी नहीं। अगर उसमें दिखावटीपन आ जायगा तो उसके साधनमें शिथिलता आ जायगी, जिससे उद्देश्यकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी। अतः उसको कोई अच्छा, बुरा, ऊँच, नीच जो कुछ भी समझे, इसकी तरफ खयाल न करके वह अपने साधनमें लगा रहे। ऐसी सावधानी रखनेसे दम्भ मिट जाता है।

'अहिंसा'—मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देनेका नाम 'अहिंसा' है। कर्ता-भेदसे हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृत (स्वयं हिंसा

करना), कारित (किसीसे हिंसा करवाना) और अनुमोदित (हिंसाका अनुमोदन-समर्थन करना)।

उपर्युक्त तीन प्रकारकी हिंसा तीन भावोंसे होती है—क्रोधसे, लोभसे और मोहसे। तात्पर्य है कि क्रोधसे भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है; लोभसे भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है तथा मोहसे भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है। इस तरह हिंसा नौ प्रकारकी हो जाती है।

उपर्युक्त नौ प्रकारकी हिंसामें तीन मात्राएँ होती हैं—मृदुमात्रा, मध्यमात्रा और अधिमात्रा। किसीको थोड़ा दुःख देना मृदुमात्रामें हिंसा है, मृदुमात्रासे अधिक दुःख देना मध्यमात्रामें हिंसा है और बहुत अधिक घायल कर देना अथवा खत्म कर देना अधिमात्रामें हिंसा है। इस तरह मृदु, मध्य और अधिमात्राके भेदसे हिंसा सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है।

उपर्युक्त सत्ताईस प्रकारकी हिंसा तीन करणोंसे होती है—शरीरसे, वाणीसे और मनसे। इस तरह हिंसा इक्यासी प्रकारकी हो जाती है। इनमेंसे किसी भी प्रकारकी हिंसा न करनेका नाम 'अहिंसा' है।

अहिंसा भी चार प्रकारकी होती है—देशगत, कालगत, समयगत और व्यक्तिगत। अमुक तीर्थमें, अमुक मन्दिरमें, अमुक स्थानमें किसीको दुःख नहीं देना है—यह 'देशगत अहिंसा' है। अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात आदि पर्वोंके दिन किसीको दुःख नहीं देना है—यह 'कालगत अहिंसा' है। सन्तके मिलनेपर, पुत्रके जन्म-दिनपर, पिताके निधन-दिवसपर किसीको दुःख नहीं देना है—यह 'समयगत अहिंसा' है। गाय, हरिण आदिको तथा गुरुजन, माता-पिता, बालक आदिको दुःख नहीं देना है—यह 'व्यक्तिगत अहिंसा' है।

किसी भी देश, काल आदिमें क्रोध-लोभ-मोहपूर्वक किसीको भी शरीर, वाणी और मनसे किसी भी प्रकारसे दुःख न देनेसे यह सार्वभौम अहिंसा 'महाव्रत' कहलाती है।

उपाय—जैसे साधारण प्राणी अपने शरीरका सुख चाहता है, ऐसे ही साधकको सबके सुखमें अपना सुख, सबके हितमें अपना हित और सबकी सेवामें अपनी सेवा माननी चाहिये अर्थात् सबके सुख, हित और सेवासे अपना सुख, हित और सेवा अलग नहीं माननी चाहिये। 'सब अपने ही स्वरूप हैं'—ऐसा विवेक जाग्रत् रहनेसे उसके द्वारा किसीको दुःख देनेकी क्रिया होगी ही नहीं और उसमें अहिंसाभाव स्वतः आ जायगा।

‘क्षान्तिः’—क्षान्ति नाम सहनशीलता अर्थात् क्षमाका है। अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी अपराध करनेवालेको कभी किसी प्रकारसे किंचिन्मात्र भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव रखना तथा उससे बदला लेने अथवा किसी दूसरेके द्वारा दण्ड दिलवानेका भाव न रखना ही ‘क्षान्ति’ है।

‘उपाय—(१) सहनशीलता अपने स्वरूपमें स्वतः—सिद्ध है; क्योंकि अपने स्वरूपमें कभी विकृति आती ही नहीं। अतः कभी ‘अमुकने दुःख दिया है, अपराध किया है’—ऐसी कोई वृत्ति आ भी जाय, तो उस समय यह विचार स्वतः आना चाहिये कि हमारा कोई बिगाड़ कर ही नहीं सकता, हमारेमें कोई विकृति आ ही नहीं सकती, वह हमारे स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकती। ऐसा विचार करनेसे क्षमाभाव स्वतः आ जाता है।

(२) जैसे भोजन करते समय अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाय, तो हम दाँतोंपर क्रोध नहीं करते, दाँतोंको दण्ड नहीं देते। हाँ, जीभ ठीक हो जाय—यह बात तो मनमें आती है, पर दाँतोंको तोड़ दें—यह भाव मनमें कभी आता ही नहीं। कारण कि दाँतोंको तोड़ेंगे तो एक नयी पीड़ा और होगी अर्थात् पीड़ा दुगुनी होगी, जिससे हमारेको ही दुःख होगा, हमारा ही अनिष्ट होगा। ऐसे ही बिना कारण कोई हमारा अपराध करता है, हमें दुःख देता है, उसको अगर हम दण्ड देंगे, दुःख देंगे तो वास्तवमें हमारा ही अनिष्ट होगा; क्योंकि वह भी तो अपना ही स्वरूप है (गीता—छठे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

‘आर्जवम्’—सरल-सीधेपनके भावको ‘आर्जव’ कहते हैं। साधकके शरीर, मन और वाणीमें सरल-सीधापन होना चाहिये। शरीरकी सजावटका भाव न होना, रहन-सहनमें सादगी तथा चाल-ढालमें स्वाभाविक सीधापन होना, ऐंठ-अकड़ न होना—यह ‘शरीरकी सरलता’ है। छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष आदिका न होना तथा निष्कपटता, सौम्यता, हितैषिता, दया आदिका होना—यह ‘मनकी सरलता’ है। व्यंग्य, निन्दा, चुगली आदि न करना, चुभनेवाले एवं अपमानजनक वचन न बोलना तथा सरल, प्रिय और हितकारक वचन बोलना—यह ‘वाणीकी सरलता’ है।

उपाय—अपनेको एक देशमें माननेसे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है। इससे व्यवहारमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते आदि क्रिया करते हुए कुछ टेढ़ापन, अकड़ आ जाती है। अतः शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे और अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि

रखनेसे यह अकड़ मिट जाती है और साधकमें स्वतः सरलता, नम्रता आ जाती है।

‘आचार्योपासनम्’—विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम भी आचार्य है और उनकी सेवासे भी लाभ होता है; परन्तु यहाँ ‘आचार्य’ पद परमात्मतत्त्वको प्राप्त जीवन्मुक्त महापुरुषका ही वाचक है। आचार्यको दण्डवत्-प्रणाम करना, उनका आदर-सत्कार करना और उनके शरीरको सुख पहुँचानेकी शास्त्रविहित चेष्टा करना भी उनकी उपासना है, पर वास्तवमें उनके सिद्धान्तों और भावोंके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची उपासना है। कारण कि देहाभिमानकी सेवा तो उसके देहकी सेवा करनेसे ही हो जाती है, पर गुणातीत महापुरुषके केवल देहकी सेवा करना उनकी पूर्ण सेवा नहीं है।

भगवान्ने दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंमें ‘आचार्योपासनम्’ पद न देकर यहाँ ज्ञानके साधनोंमें उसे दिया है। इसमें एक विशेष रहस्यकी बात मालूम देती है कि ज्ञानमार्गमें गुरुकी जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता भक्तिमार्गमें नहीं है। कारण कि भक्तिमार्गमें साधक सर्वथा भगवान्के आश्रित रहकर ही साधन करता है, इसलिये भगवान् स्वयं उसपर कृपा करके उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), उसकी कमियोंको, विघ्न-बाधाओंको दूर कर देते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ श्लोक) और उसको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। परन्तु ज्ञानमार्गमें साधक अपनी साधनाके बलपर चलता है, इसलिये उसमें कुछ सूक्ष्म कमियाँ रह सकती हैं; जैसे—

(१) शास्त्रों एवं संतोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके जब साधक शरीरको (अपनी धारणासे) अपनेसे अलग मानता है, तब उसे शान्ति मिलती है। ऐसी दशामें वह यह मान लेता है कि मेरेको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया! परन्तु जब मान-अपमानकी स्थिति सामने आती है अथवा अपनी इच्छाके अनुकूल या प्रतिकूल घटना घटती है, तब अन्तःकरणमें हर्ष-शोक पैदा हो जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि अभी तत्त्वज्ञान हुआ नहीं।

(२) किसी आदमीके द्वारा अचानक अपना नाम सुनायी पड़नेपर अन्तःकरणमें ‘इस नामवाला शरीर मैं हूँ’—ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है, तो समझना चाहिये कि अभी मेरी शरीरमें ही स्थिति है।

(३) साधनाकी ऊँची स्थिति प्राप्त होनेपर जाग्रत-अवस्थामें तो साधकको जड़-चेतनका विवेक अच्छी तरह

रहता है, पर निद्रावस्थामें उसकी विस्मृति हो जाती है। इसलिये नींदसे जगनेपर साधक उस विवेकको पकड़ता है, जब कि सिद्ध महापुरुषका विवेक स्वाभाविक रूपसे रहता है।

(४) साधकमें पूज्यजनोंसे भी मान-आदर पानेकी इच्छा हो जाती है; जैसे—जब वह संतों या गुरुजनोंकी सेवा करता है, सत्संग आदिमें मुख्यतासे भाग लेता है, तब उसके भीतर ऐसा भाव पैदा होता है कि वे संत या गुरुजन मेरेको दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मानें। यह उसकी सूक्ष्म कमी ही है।

इस प्रकार साधकमें कई कमियोंके रहनेकी सम्भावना रहती है, जिनकी तरफ खयाल न रहनेसे वह अपने अधूरे ज्ञानको भी पूर्ण मान सकता है। इसलिये भगवान् 'आचार्योपासनम्' पदसे यह कह रहे हैं कि ज्ञानमार्गके साधकको आचार्यके पास रहकर उनकी अधीनतामें ही साधन करना चाहिये। चौथे अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि 'तू तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके पास जा, उनको दण्डवत्-प्रणाम कर, उनकी सेवा कर और अपनी जिज्ञासा-पूर्तिके लिये नम्रतापूर्वक प्रश्न कर तो वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्मा तेरेको ज्ञानका उपदेश देंगे।' इस प्रकार साधन करनेपर वे महापुरुष उसकी उन सूक्ष्म कमियोंको, जिनको वह खुद भी नहीं जानता, दूर करके उसको सुगमतासे परमात्मतत्त्वका अनुभव करा सकते हैं।

साधकको शुरूमें ही सोच-समझकर आचार्य, संत-महापुरुषके पास जाना चाहिये। आचार्य (गुरु) कैसा हो? इस सम्बन्धमें ये बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—

(१) अपनी दृष्टिमें जो वास्तविक बोधवान्, तत्त्वज्ञ दीखते हों।

(२) जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंको ठीक-ठीक जाननेवाले हों।

(३) जिनके संगसे, वचनोंसे हमारे हृदयमें रहनेवाली शंकाएँ बिना पूछे ही स्वतः दूर हो जाती हों।

(४) जिनके पासमें रहनेसे प्रसन्नता, शान्तिका अनुभव होता हो।

(५) जो हमारे साथ केवल हमारे हितके लिये ही सम्बन्ध रखते हुए दीखते हों।

(६) जो हमारेसे किसी भी वस्तुकी किंचिन्मात्र भी आशा न रखते हों।

(७) जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ केवल साधकोंके हितके लिये ही होती हों।

(८) जिनके पासमें रहनेसे लक्ष्यकी तरफ हमारी लगन स्वतः बढ़ती हो।

(९) जिनके संग, दर्शन, भाषण, स्मरण आदिसे हमारे दुर्गुण-दुराचार दूर होकर स्वतः सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पत्ति आती हो।

(१०) जिनके सिवाय और किसीमें वैसी अलौकिकता, विलक्षणता न दीखती हो।

ऐसे आचार्य, संतके पास रहना चाहिये और केवल अपने उद्धारके लिये ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहिये। वे क्या करते हैं, क्या नहीं करते? वे ऐसी क्रिया क्यों करते हैं? वे कब किसके साथ कैसा बर्ताव करते हैं? आदिमें अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिये अर्थात् उनकी क्रियाओंमें तर्क नहीं लगाना चाहिये। साधकको तो उनके अधीन होकर रहना चाहिये, उनकी आज्ञा, रुखके अनुसार मात्र क्रियाएँ करनी चाहिये और श्रद्धाभावपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये। अगर वे महापुरुष न चाहते हों तो उनसे गुरु-शिष्यका व्यावहारिक सम्बन्ध भी जोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, उनको हृदयसे गुरु मानकर उनपर श्रद्धा रखनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

अगर ऐसे महापुरुष न मिलें तो साधकको चाहिये कि वह केवल परमात्माके परायण होकर उनके ध्यान, चिन्तन आदिमें लग जाय और विश्वास रखे कि परमात्मा अवश्य गुरुकी प्राप्ति करा देंगे। वास्तवमें देखा जाय तो पूर्णतया परमात्मापर निर्भर हो जानेके बाद गुरुका काम परमात्मा ही पूर्ण कर देते हैं; क्योंकि गुरुके द्वारा भी वस्तुतः परमात्मा ही साधकका मार्ग-दर्शन करते हैं।

**उपाय**—जिस साधकका परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य है, उसमें यह भाव रहना चाहिये कि आजतक जिस-किसीको जो कुछ भी मिला है, वह गुरुकी, सन्तोंकी सेवासे, उनकी प्रसन्नतासे, उनके अनुकूल बननेसे ही मिला है\*; अतः मेरेको भी सच्चे हृदयसे सन्तोंकी सेवा करनी है।

### विशेष बात

शिष्यका कर्तव्य है—गुरुकी सेवा करना। अगर शिष्य अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करे तो उसका संसारसे

\* इस विषयमें किसीने कहा है—

न कुछ हम हँसके सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं। जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं, किसीके होके सीखे हैं।

सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह गुरु-तत्त्वके साथ एक हो जाता है अर्थात् उसमें गुरुत्व आ जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मुक्ति और गुरु-तत्त्वसे एक होनेपर भक्ति प्राप्त होती है। शिष्यमें गुरुत्व आनेसे उसमें शिष्यत्व नहीं रहता। उसपर शास्त्र आदिका शासन नहीं रहता। अगर शिष्य अपने कर्तव्यका पालन न करे तो उसका नाम तो शिष्य रहेगा, पर उसमें शिष्यत्व नहीं रहेगा। शिष्यत्व न रहनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा और उसमें गुरुत्व भी नहीं आयेगा। अतः उसमें संसारकी दासता रहेगी।

गुरु केवल मेरा ही कल्याण करे—ऐसा भाव रखना भी शिष्यके लिये बन्धन है। शिष्यको चाहिये कि वह अपने लिये कुछ भी न चाहकर सर्वथा गुरुके समर्पित हो जाय, उनकी मरजीमें ही अपनी मरजी मिला दे।

गुरुका कर्तव्य है—शिष्यका कल्याण करना। अगर गुरु अपने कर्तव्यका पालन न करे तो उसका नाम तो गुरु रहेगा, पर उसमें गुरुत्व नहीं रहेगा। गुरुत्व न रहनेसे उसमें शिष्यका दासत्व रहेगा। जबतक गुरु शिष्यसे कुछ भी (धन, मान, बड़ाई आदि) चाहता है, तबतक उसमें गुरुत्व न रहकर शिष्यकी दासता रहती है।

‘शौचम्’—बाहर-भीतरकी शुद्धिका नाम शौच है। जल, मिट्टी आदिसे शरीरकी शुद्धि होती है और दया, क्षमा, उदारता आदिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

उपाय—शरीर बना ही ऐसे पदार्थोंसे है कि इसको चाहे जितना शुद्ध करते रहें, यह अशुद्ध ही रहता है। इससे बार-बार अशुद्धि ही निकलती रहती है। अतः इसको बार-बार शुद्ध करते-करते ही इसकी वास्तविक अशुद्धिका ज्ञान होता है, जिससे शरीरसे अरुचि (उपरामता) हो जाती है।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सच्चाईके साथ धनका उपार्जन करना; झूठ, कपट आदि न करना; पराया हक न आने देना; खान-पानमें पवित्र चीजें काममें लाना आदिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

‘स्थैर्यम्’—स्थैर्य नाम स्थिरताका, विचलित न होनेका है। जो विचार कर लिया है, जिसको लक्ष्य बना लिया

है, उससे विचलित न होना ‘स्थैर्य’ है। मेरेको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना ही है—ऐसा दृढ़ निश्चय करना और विघ्न-बाधाओंके आनेपर भी उनसे विचलित न होकर अपने निश्चयके अनुसार साधनमें तत्परतापूर्वक लगे रहना—इसीको यहाँ ‘स्थैर्यम्’ पदसे कहा गया है।

उपाय—(१) सांसारिक भोग और संग्रहमें आसक्त पुरुषोंकी बुद्धि एक निश्चयपर दृढ़ नहीं रहती (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। अतः साधकको भोग और संग्रहकी आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये।

(२) साधक अगर किसी छोटे-से-छोटे कार्यका भी विचार कर ले, तो उस विचारकी हिंसा न करे अर्थात् उसपर दृढ़तासे स्थिर रहे। ऐसा करनेसे उसका स्थिर रहनेका स्वभाव बन जायगा।

(३) साधकका संतों और शास्त्रोंके वचनोंपर जितना अधिक विश्वास होगा, उतनी ही उसमें स्थिरता आयेगी।

‘आत्मविनिग्रहः’—यहाँ आत्मा नाम मनका है, और उसको वशमें करना ही ‘आत्मविनिग्रह’ है। मनमें दो तरहकी चीजें पैदा होती हैं—स्फुरणा और संकल्प। स्फुरणा अनेक प्रकारकी होती है और वह आती-जाती रहती है। पर जिस स्फुरणामें मन चिपक जाता है, जिसको मन पकड़ लेता है, वह ‘संकल्प’ बन जाती है। संकल्पमें दो चीजें रहती हैं—राग और द्वेष। इन दोनोंको लेकर मनमें चिन्तन होता है। स्फुरणा तो दर्पणके दृश्यकी तरह होती है। दर्पणमें दृश्य दीखता तो है, पर कोई भी दृश्य चिपकता नहीं अर्थात् दर्पण किसी भी दृश्यको पकड़ता नहीं। परन्तु संकल्प कैमरेकी फिल्मकी तरह होता है, जो दृश्यको पकड़ लेता है। अभ्याससे अर्थात् मनको बार-बार ध्येयमें लगानेसे स्फुरणाएँ नष्ट हो जाती हैं और वैराग्यसे अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें राग, महत्त्व न रहनेसे संकल्प नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यसे मन वशमें हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)।

उपाय—(मनके वशमें करनेके उपाय छठे अध्यायके छब्बीसवें श्लोककी व्याख्यामें देखने चाहिये)।

परिशिष्ट भाव—भगवान् क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्ध-(तादात्म्य-) को तोड़नेके लिये ज्ञानके साधन बताते हैं। ये साधन तादात्म्यको तोड़नेमें सहायक हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्

॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु	= इन्द्रियोंके विषयोंमें	च	= और	वृद्धावस्था तथा
वैराग्यम्	= वैराग्यका होना,	जन्ममृत्यु-		व्याधियोंमें दुःख-
अनहङ्कारः,		जराव्याधि-		रूप दोषोंको
एव	= अहंकारका भी न	दुःखदोषानु-		बार-बार
	होना	दर्शनम्	= जन्म, मृत्यु,	देखना।

व्याख्या—‘इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्’—लोक-परलोकके शब्दादि समस्त विषयोंमें इन्द्रियोंका खिंचाव न होना ही इन्द्रियोंके विषयोंमें रागरहित होना है। इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी तथा शास्त्रके अनुसार जीवन-निर्वाहके लिये इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन करते हुए भी साधकको विषयोंमें राग, आसक्ति, प्रियता नहीं होनी चाहिये।

उपाय—(१) विषयोंमें राग होनेसे ही विषयोंकी महत्ता दीखती है, संसारमें आकर्षण होता है और इसीसे सब पाप होते हैं। अगर हमारा विषयोंमें ही राग रहेगा तो तत्त्वबोध कैसे होगा? परमात्मतत्त्वमें हमारी स्थिति कैसे होगी? अगर रागका त्याग कर दें तो परमात्मामें स्थिति हो जायगी—ऐसा विचार करनेसे विषयोंसे वैराग्य हो जाता है।

(२) बड़े-बड़े धनी, शूरवीर, राजा-महाराजा हुए और उन्होंने बहुत-से भोगोंको भोगा, पर अन्तमें उनका क्या रहा? कुछ नहीं रहा। उनके शरीर कमजोर हो गये और अन्तमें सब चले गये। इस प्रकार विचार करनेसे भी वैराग्य हो जाता है।

(३) जिन्होंने भोग नहीं भोगे हैं, जिनके पास भोग-सामग्री नहीं है, जो संसारसे विरक्त हैं, उनकी अपेक्षा जिन्होंने बहुत भोग भोगे हैं और भोग रहे हैं, उनमें क्या विलक्षणता, विशेषता आयी? कुछ नहीं, प्रत्युत भोग भोगनेवाले तो शोक-चिन्तामें डूबे हुए हैं। ऐसा विचार करनेसे भी वैराग्य होता है।

‘अनहंकार एव च’—प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवमें ‘मैं हूँ’—इस प्रकारकी एक वृत्ति होती है। यह वृत्ति ही शरीरके साथ मिलकर ‘मैं शरीर हूँ’—इस प्रकार एकदेशीयता अर्थात् अहंकार उत्पन्न कर देती है। इसीके कारण शरीर, नाम, क्रिया, पदार्थ, भाव, ज्ञान, त्याग, देश, काल आदिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मता-मरता रहता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यह अहंकार साधनमें प्रायः बहुत दूरतक रहता है। वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है, फिर भी स्वयंकी मान्यता

होनेके कारण व्यक्तित्वके रूपमें इसका भान होता रहता है। भगवान्द्वारा ज्ञानके साधनोंमें इस पदका प्रयोग किये जानेका तात्पर्य शरीरादिमें माने हुए अहंकारका सर्वथा अभाव करनेमें है; क्योंकि जड-चेतनका यथार्थ बोध होनेपर इसका सर्वथा अभाव हो जाता है। मनुष्यमात्र अहंकाररहित हो सकता है, इसीलिये भगवान् यहाँ ‘अनहंकारः’ पदसे अहंकारका त्याग करनेकी बात कहते हैं।

अभिमान और अहंकारका प्रयोग एक साथ होनेपर उनसे अलग-अलग भावोंका बोध होता है। सांसारिक चीजोंके सम्बन्धसे अभिमान पैदा होता है। ऐसे ही त्याग, वैराग्य, विद्या आदिको लेकर अपनेमें विशेषता देखनेसे भी अभिमान पैदा होता है। शरीरको ही अपना स्वरूप माननेसे अहंकार पैदा होता है। यहाँ ‘अनहंकारः’ पदसे अभिमान और अहंकार—दोनोंके सर्वथा अभावका अर्थ लेना चाहिये।

मनुष्यको नींदसे जगनेपर सबसे पहले ‘अहम्’ अर्थात् ‘मैं हूँ’—इस वृत्तिके ज्ञान होता है। फिर मैं अमुक शरीर, नाम, जाति, वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—ऐसा अभिमान होता है। यह एक क्रम है। इसी प्रकार पारमार्थिक मार्गमें भी अहंकारके नाशका एक क्रम है। सबसे पहले स्थूल-शरीरसे सम्बन्धित धनादि पदार्थोंका अभिमान मिटता है। फिर कर्मेन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहनेवाले कर्तृत्वाभिमानका नाश होता है। उसके बाद बुद्धिकी प्रधानतासे रहनेवाला ज्ञातापनका अहंकार मिटता है। अन्तमें ‘अहम्’ वृत्तिकी प्रधानतासे जो साक्षीपनका अहंकार है, वह भी मिट जाता है। तब सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघनस्वरूप स्वतः रह जाता है।

उपाय—(१) अपनेमें श्रेष्ठताकी भावनासे ही अभिमान पैदा होता है। अभिमान तभी होता है, जब मनुष्य दूसरोंकी तरफ देखकर यह सोचता है कि वे मेरी अपेक्षा तुच्छ हैं। जैसे, गाँवभरमें एक ही लखपति हो तो दूसरोंको देखकर उसको लखपति होनेका अभिमान होता है। परन्तु अगर दूसरे सभी करोड़पति हों तो उसको अपने लखपति होनेका अभिमान नहीं होता। अतः अभिमानरूप दोषको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह दूसरोंकी कमीकी



तरफ कभी न देखे, प्रत्युत अपनी कमियोंको देखकर उनको दूर करे<sup>१</sup>।

(२) एक ही आत्मा जैसे इस शरीरमें व्याप्त है, ऐसे ही वह अन्य शरीरोंमें भी व्याप्त है—‘सर्वगतः’ (गीता २। २४)। परन्तु मनुष्य अज्ञानसे सर्वव्यापी आत्माको एक अपने शरीरमें ही सीमित मानकर शरीरको ‘मैं’ मान लेता है। जैसे मनुष्य बैंकमें रखे हुए बहुत-से रुपयोंमेंसे केवल अपने द्वारा जमा किये हुए कुछ रुपयोंमें ही ममता करके, उनके साथ अपना सम्बन्ध मानकर अपनेको धनी मान लेता है, ऐसे ही एक शरीरमें ‘मैं शरीर हूँ’—ऐसी अहंता करके वह कालसे सम्बन्ध मानकर ‘मैं इस समयमें हूँ’, देशसे सम्बन्ध मानकर ‘मैं यहाँ हूँ’, बुद्धिसे सम्बन्ध मानकर ‘मैं समझदार हूँ’, वाणीसे सम्बन्ध मानकर ‘मैं वक्ता हूँ’ आदि अहंकार कर लेता है। इस प्रकारके सम्बन्ध न मानना ही अहंकाररहित होनेका उपाय है।

(३) शास्त्रोंमें परमात्माका ‘सच्चिदानन्दघन’-रूपसे वर्णन आया है। ‘सत्’ (सत्ता), ‘चित्’ (ज्ञान) और ‘आनन्द’ (अविनाशी सुख)—ये तीनों परमात्माके भिन्न-भिन्न स्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत एक ही परमात्मतत्त्वके तीन नाम हैं। अतः साधक इन तीनोंमेंसे किसी एक विशेषणसे भी परमात्माका लक्ष्य करके निर्विकल्प<sup>२</sup> हो सकता है। निर्विकल्प होनेसे उसको परमात्मतत्त्वमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है और अहंकारका सर्वथा नाश हो जाता है। इसको इस प्रकार समझना चाहिये—

(क) ‘सत्’—परमात्मतत्त्व सदासे ही था, सदासे है और सदा ही रहेगा। वह कभी बनता-बिगड़ता नहीं, कम-ज्यादा भी नहीं होता, सदा ज्यों-का-त्यों रहता है—ऐसा बुद्धिके द्वारा विचार करके निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे साधकका बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उस सत्-तत्त्वमें अपनी वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। ऐसा अनुभव होनेपर फिर अहंकार नहीं रहता।

(ख) ‘चित्’—जैसे प्रत्येक व्यक्तिके शरीरादि ‘अहम्’ के अन्तर्गत दृश्य हैं, ऐसे ही ‘अहम्’ भी (मैं, तू, यह और वहके रूपमें) एक ज्ञानके अन्तर्गत दृश्य है<sup>३</sup>। उस ज्ञान- (चेतन-) में निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे परमात्मतत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर अहंकार नहीं रहता।

(ग) ‘आनन्द’—साधकलोग प्रायः बुद्धि और अहम्को प्रकाशित करनेवाले ‘चेतन’को भी बुद्धिके द्वारा ही जाननेकी चेष्टा किया करते हैं। वास्तवमें बुद्धिके द्वारा जाने अर्थात् सीखे हुए विषयको ‘ज्ञान’ की संज्ञा देना और उससे अपने-आपको ज्ञानी मान लेना भूल ही है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाला तत्त्व बुद्धिके द्वारा कैसे जाना जा सकता है? यद्यपि साधकके पास बुद्धिके सिवाय ऐसा और कोई साधन नहीं है, जिससे वह तत्त्व जाना जा सके, तथापि बुद्धिके द्वारा केवल जड संसारकी वास्तविकताको ही जाना जा सकता है। बुद्धि जिससे प्रकाशित होती है, उस तत्त्वको बुद्धि नहीं जान सकती। उस तत्त्वको जाननेके लिये बुद्धिसे भी सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले परमात्मतत्त्वमें निर्विकल्परूपसे स्थित हो जानेपर बुद्धिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। फिर एक ‘आनन्द’-स्वरूप (जहाँ दुःखका लेश भी नहीं है) परमात्मतत्त्व ही शेष रह जाता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप और सत्स्वरूप भी है। इस प्रकार तत्त्वमें निर्विकल्प (चुप) हो जानेपर ‘आनन्द-ही-आनन्द है’—ऐसा अनुभव होता है। ऐसा अनुभव होनेपर फिर अहंकार नहीं रहता।

‘जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्’—जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखनेका तात्पर्य है—जैसे आँवामें मटका पकता है, ऐसे ही जन्मसे पहले माताके उदरमें बच्चा जठराग्निमें पकता रहता है। माताके खाये हुए नमक, मिर्च आदि क्षार और तीखे पदार्थोंसे बच्चेके शरीरमें जलन होती है। गर्भाशयमें

१-तेरे भावे जो करे, भलौ बुरौ संसार। ‘नारायण’ तू बैठिके, अपनौ भवन बुहार ॥

२-संसारके चिन्तनसे साधकका कोई प्रयोजन होता नहीं और अचिन्त्य परमात्मतत्त्व चिन्तनमें आता नहीं—यही निर्विकल्पता है।

३-किसी सेठने सुना कि अमुक दूकानमें इतना नफा हुआ है और साथ ही यह भी सुना कि अमुक दूकानमें इतना नुकसान हुआ है। इस प्रकार नफा और नुकसान—इन दोनोंमें तो फरक है, पर इन दोनोंके ज्ञानमें कोई फरक नहीं है; ज्ञान तो एक ही है। अगर ज्ञान एक न होता तो नफा और नुकसान—दोनोंकी भिन्नताका ज्ञान कैसे होता? इसी तरह ‘मैं’, ‘तू’, ‘यह’ और ‘वह’—ये चारों अलग-अलग होनेपर भी इनका प्रकाशक ज्ञान एक ही है। जिस सामान्य प्रकाशमें ‘मैं’ में क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकाशमें ‘तू, यह और वह’ में भी क्रियाएँ होती हैं। उस सामान्य प्रकाशमें ‘मैं, तू, यह और वह’ का भेद नहीं है। उस सामान्य प्रकाशका सम्बन्ध यदि है तो चारोंके साथ है और यदि नहीं है तो किसीके भी साथ नहीं है।

रहनेवाले सूक्ष्म जन्तु भी बच्चेको काटते रहते हैं। प्रसवके समय माताको जो पीड़ा होती है, उसका कोई अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। वैसी ही पीड़ा उदरसे बाहर आते समय बच्चेको होती है। इस तरह जन्मके दुःखरूप दोषोंका बार-बार विचार करके इस विचारको दृढ़ करना कि इसमें केवल दुःख-ही-दुःख है।

जो जन्मता है, उसको मरना ही पड़ता है—यह नियम है। इससे कोई बच ही नहीं सकता। मृत्युके समय जब प्राण शरीरसे निकलते हैं, तब हजारों बिच्छू शरीरमें एक साथ डंक मारते हैं—ऐसी पीड़ा होती है। उम्रभरमें कमाये हुए धनसे, उम्रभरमें रहे हुए मकानसे और अपने परिवारसे जब वियोग होता है और फिर उनके मिलनेकी सम्भावना नहीं रहती, तब (ममता-आसक्तिके कारण) बड़ा भारी दुःख होता है। जिस धनको कभी किसीको दिखाना नहीं चाहता था, जिस धनको परिवारवालोंसे छिपा-छिपाकर तितोरीमें रखा था, उसकी चाबी परिवारवालोंके हाथमें पड़ी देखकर मनमें असह्य वेदना होती है। इस तरह मृत्युके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखे।

वृद्धावस्थामें शरीर और अवयवोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे चलने-फिरने, उठने-बैठनेमें कष्ट होता है। हरेक तरहका भोजन पचता नहीं। बड़ा होनेके कारण परिवारसे आदर चाहता है, पर कोई प्रयोजन न रहनेसे घरवाले निरादर, अपमान करते हैं। तब मनमें पहलेकी बातें याद आती हैं कि मैंने धन कमाया है, इनको पाला-पोसा है, पर आज ये मेरा तिरस्कार कर रहे हैं! इन बातोंको लेकर बड़ा दुःख होता है। इस तरह वृद्धावस्थाके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखे।

यह शरीर व्याधियोंका, रोगोंका घर है—‘शरीरं

**परिशिष्ट भाव**—एक ‘दुःखका भोग’ होता है और एक ‘दुःखका प्रभाव’ होता है। दुःखसे दुःखी होना और सुखकी इच्छा करना ‘दुःखका भोग’ है। दुःखके कारणकी खोज करके उसको मिटाना ‘दुःखका प्रभाव’ है। यहाँ दुःखके प्रभावको ‘दुःखदोषानुदर्शनम्’ पदसे कहा गया है।

दुःखका भोग करनेसे अर्थात् दुःखी होनेसे विवेक लुप्त हो जाता है। परन्तु दुःखका प्रभाव होनेसे विवेक लुप्त नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य विवेकदृष्टिसे दुःखके कारणकी खोज करता है और खोज करके उसको मिटाता है। सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। कारणके मिटनेपर कार्य अपने-आप मिट जाता है; अतः सुखकी इच्छा मिटनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

**व्याधिमन्दिरम्।** शरीरमें वात, कफ आदिसे पैदा होनेवाले अनेक प्रकारके रोग होते रहते हैं और उन रोगोंसे शरीरमें बड़ी पीड़ा होती है। इस तरह रोगोंके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखे।

यहाँ बार-बार देखनेका तात्पर्य बार-बार चिन्तन करनेसे नहीं है, प्रत्युत विचार करनेसे है। जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंके दुःखोंको बार-बार देखनेसे अर्थात् विचार करनेसे उनके मूल कारण—उत्पत्तिविनाशशील पदार्थोंमें राग स्वाभाविक ही कम हो जाता है अर्थात् भोगोंसे वैराग्य हो जाता है। तात्पर्य है कि जन्म, मृत्यु आदिके दुःखरूप दोषोंको देखना भोगोंसे वैराग्य होनेमें हेतु है; क्योंकि भोगोंके रागसे अर्थात् गुणोंके संगसे ही जन्म होता है—‘कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता १३।२१) और जो जन्म होता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। भगवान्ने पुनर्जन्मको दुःखालय बताया है—‘पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्’ (गीता ८।१५)।

शरीर आदि जड पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे, उनको महत्त्व देनेसे, उनका आश्रय लेनेसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं—‘देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति।’ परमात्माका स्वरूप अथवा उसका ही अंश होनेके ही कारण जीवात्मा स्वयं निर्दोष है—‘चेतन अमल सहज सुखरासी’ (मानस ७।११७।१)। यही कारण है कि जीवात्माको दुःख और दोष अच्छे नहीं लगते; क्योंकि वे इसके सजातीय नहीं हैं। जीव अपने द्वारा ही पैदा किये दोषोंके कारण सदा दुःख पाता रहता है। अतः भगवान् जन्म, मृत्यु आदिके दुःखरूप दोषोंके मूल कारण देहाभिमानको विचारपूर्वक मिटानेके लिये कह रहे हैं।

**असक्तिरनभिष्वङ्गः**

**पुत्रदारगृहादिषु।**

**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥**

असक्तिः	= आसक्तिरहित होना,	अनभिष्वङ्गः	= एकात्मता ( घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना	प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें
पुत्रदार- गृहादिषु	= पुत्र, स्त्री, घर आदिमें	च	= और	नित्यम्,
		इष्टानिष्टोप- पत्तिषु	= अनुकूलता-	समचित्तत्वम् = चित्तका नित्य सम रहना।

व्याख्या—‘असक्तिः’—उत्पन्न होनेवाली (सांसारिक) वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें जो प्रियता है, उसको ‘सक्ति’ कहते हैं। उस ‘सक्ति’से रहित होनेका नाम ‘असक्ति’ है।

सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिसे सुख लेनेकी इच्छासे, सुखकी आशासे और सुखके भोगसे ही मनुष्यकी उनमें आसक्ति, प्रियता होती है। कारण कि मनुष्यको संयोगके सिवाय सुख नहीं दीखता, इसलिये उसको संयोगजन्य सुख प्रिय लगता है। परन्तु वास्तविक सुख संयोगके वियोगसे होता है (गीता—छठे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक), इसलिये साधकके लिये सांसारिक आसक्तिका त्याग करना बहुत आवश्यक है।

उपाय—संयोगजन्य सुख आरम्भमें तो अमृतकी तरह दीखता है, पर परिणाममें विषकी तरह होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। संयोगजन्य सुख भोगनेवालेको परिणाममें दुःख भोगना ही पड़ता है—यह नियम है। अतः संयोगजन्य सुखके परिणामपर दृष्टि रखनेसे उसमें आसक्ति नहीं रहती।

‘अनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु’—पुत्र, स्त्री, घर, धन, जमीन, पशु आदिके साथ माना हुआ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, गाढ़ मोह है, तादात्म्य है, मानी हुई एकात्मता है, जिसके कारण शरीरपर भी असर पड़ता है, उसका नाम ‘अभिष्वंग’ है\*। जैसे—पुत्रके साथ माताकी एकात्मता रहनेके कारण जब पुत्र बीमार हो जाता है, तब माताका शरीर कमजोर हो जाता है। ऐसे ही पुत्रके, स्त्रीके मर जानेपर मनुष्य कहता है कि मैं मर गया, धनके चले जानेपर कहता है कि मैं मारा गया, आदि। ऐसी एकात्मतासे रहित होनेके लिये यहाँ ‘अनभिष्वंगः’ पद आया है।

उपाय—जिनके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध दीखे, उनकी सेवा करे, उनको सुख पहुँचाये, पर उनसे सुख

लेनेका उद्देश्य न रखे। उद्देश्य तो उनसे अभिष्वंग (तादात्म्य) दूर करनेका ही रखे। अगर उनसे सेवा लेनेका उद्देश्य रखेंगे तो उनसे तादात्म्य हो जायगा। हाँ, उनकी प्रसन्नताके लिये कभी उनसे सेवा लेनी भी पड़े तो उसमें राजी न हो; क्योंकि राजी होनेसे अभिष्वंग हो जायगा। तात्पर्य है कि किसीके भी साथ अपनेको लिप्त न करे। इस बातकी बहुत सावधानी रखे।

‘नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु’—‘इष्ट’ अर्थात् मनके अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिके प्राप्त होनेपर चित्तमें राग, हर्ष, सुख आदि विकार न हो और ‘अनिष्ट’ अर्थात् मनके प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति आदिके प्राप्त होनेपर चित्तमें द्वेष, शोक, दुःख, उद्वेग आदि विकार न हो। तात्पर्य है कि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके प्राप्त होनेपर चित्तमें निरन्तर समता रहे, चित्तपर उनका कोई असर न पड़े। इसको भगवान्ने ‘सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा’ (२। ४८) पदोंसे भी कहा है।

उपाय—मनुष्यको जो कुछ अनुकूल सामग्री मिली है, उसको वह अपने लिये मानकर सुख भोगता है—यह महान् बाधक है। कारण कि संसारकी सामग्री केवल संसारकी सेवामें लगानेके लिये ही मिली है, अपने शरीर-इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके लिये नहीं। ऐसे ही मनुष्यको जो कुछ प्रतिकूल सामग्री मिली है, वह दुःख भोगनेके लिये नहीं मिली है, प्रत्युत संयोगजन्य सुखका त्याग करनेके लिये, मनुष्यको सांसारिक राग, आसक्ति, कामना, ममता आदिसे छुड़ानेके लिये ही मिली है। तात्पर्य है कि अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियाँ मनुष्यको सुख-दुःखसे ऊँचा उठाकर (उन दोनोंसे अतीत) परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करानेके लिये ही मिली हैं—ऐसा दृढ़तासे मान लेनेसे साधकका चित्त इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें स्वतः सम रहेगा।

\* पुत्र, स्त्री आदिके साथ यथायोग्य बर्ताव करना, उनमें अपनापन न रखकर उनकी सेवा करना ‘अभिष्वंग’ नहीं है, प्रत्युत यह तो निर्लिप्तता, असंगता है, जो कि अमरताका अनुभव करानेवाली है।

## मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

### विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि

॥ १० ॥

मयि	= मुझमें	भक्तिः	= भक्तिका होना,	च	= और
अनन्ययोगेन	= अनन्ययोगके द्वारा	विविक्त-		जनसंसदि	= जन-समुदायमें
अव्यभि-		देशसेवित्वम्	= एकान्त स्थानमें		
चारिणी	= अव्यभिचारिणी		रहनेका स्वभाव होना	अरतिः	= प्रीतिका न होना ।

**व्याख्या—**‘मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी’—संसारका आश्रय लेनेके कारण साधकका देहाभिमान बना रहता है। यह देहाभिमान अव्यक्तके ज्ञानमें प्रधान बाधा है। इसको दूर करनेके लिये भगवान् यहाँ तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर अनन्ययोगद्वारा अपनी अव्यभिचारिणी भक्ति करनेका साधन बता रहे हैं। तात्पर्य है कि भक्तिरूप साधनसे भी देहाभिमान सुगमतापूर्वक दूर हो सकता है।

भगवान्के सिवाय और किसीसे कुछ भी पानेकी इच्छा न हो अर्थात् भगवान्के सिवाय मनुष्य, गुरु, देवता, शास्त्र आदि मेरेको उस तत्त्वका अनुभव करा सकते हैं तथा अपने बल, बुद्धि, योग्यतासे मैं उस तत्त्वको प्राप्त कर लूँगा—इस प्रकार किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिका सहारा न हो और ‘भगवान्की कृपासे ही मेरेको उस तत्त्वका अनुभव होगा’—इस प्रकार केवल भगवान्का ही सहारा हो—यह भगवान्में ‘अनन्ययोग’ होना है।

अपना सम्बन्ध केवल भगवान्के साथ ही हो, दूसरे किसीके साथ किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न हो—यह भगवान्में ‘अव्यभिचारिणी भक्ति’ होना है।

तात्पर्य है कि तत्त्वप्राप्तिका साधन (उपाय) भी भगवान् ही हों और साध्य (उपेय) भी भगवान् ही हों—यही अनन्ययोगके द्वारा भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्तिका होना है।

जिस साधकमें ज्ञानके साथ-साथ भक्तिके भी संस्कार हों, उसके लिये यह साधन बहुत उपयोगी है। भक्तिपरायण साधक अगर तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर एकमात्र भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करता है, तो केवल इसी साधनसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है। गुणातीत होनेके उपायोंमें भी भगवान्ने अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कही है (गीता—चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

शंका—यहाँ तो भक्तिसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति बतायी गयी है और अठारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्ति कही गयी है, ऐसा क्यों ?

**समाधान—**जैसे भक्ति दो प्रकारकी होती है—साधन-

भक्ति और साध्य-भक्ति, ऐसे ही ज्ञान भी दो प्रकारका होता है—साधन-ज्ञान और साध्य-ज्ञान। साध्य-भक्ति और साध्य-ज्ञान—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। साधन-भक्ति और साधन-ज्ञान—ये दोनों साध्य-भक्ति अथवा साध्य-ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं। अतः जहाँ भक्तिसे तत्त्वज्ञान- (साध्य-ज्ञान-) की प्राप्तिकी बात कही है, वह भी ठीक है और जहाँ ज्ञानसे पराभक्ति- (साध्य-भक्ति-)की प्राप्तिकी बात कही है, वह भी ठीक है। अतः साधकको चाहिये कि उसमें कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति—जिस संस्कारकी प्रधानता हो, उसीके अनुरूप साधनमें लग जाय। सावधानी केवल इतनी रखे कि उद्देश्य केवल परमात्माका ही हो, प्रकृति अथवा उसके कार्यका नहीं। ऐसा उद्देश्य होनेपर वह उसी साधनसे परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

**शंका—**भगवान्ने ज्ञानके साधनोंमें अपनी भक्तिको किसलिये बताया ? क्या ज्ञानयोगका साधक भगवान्की भक्ति भी करता है ?

**समाधान—**ज्ञानयोगके साधक (जिज्ञासु) दो प्रकारके होते हैं—भावप्रधान (भक्तिप्रधान) और विवेकप्रधान (ज्ञानप्रधान)।

(१) भावप्रधान जिज्ञासु वह है, जो भगवान्का आश्रय लेकर तत्त्वको जानना चाहता है (गीता—सातवें अध्यायका सोलहवाँ और तेरहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें ‘माम्’, ‘मम’, तीसरे श्लोकमें ‘मे’, इस (दसवें) श्लोकमें ‘मयि’ और अठारहवें श्लोकमें ‘मद्भक्तः’ तथा ‘मद्भावाय’ पदोंके आनेसे सिद्ध होता है कि अठारहवें श्लोकतक भावप्रधान जिज्ञासुका प्रकरण है। परन्तु उन्नीसवेंसे चौतीसवें श्लोकतक एक बार भी ‘अस्मद्’ (‘मैं’ वाचक) पदका प्रयोग नहीं हुआ है, इसलिये वहाँ विवेकप्रधान जिज्ञासुका प्रकरण है। अतः यहाँ भावप्रधान जिज्ञासुका प्रसंग होनेसे ज्ञानके साधनोंके अन्तर्गत भक्तिरूप साधनका वर्णन किया गया है।

दूसरी बात, जैसे सात्त्विक भोजनमें पुष्टिके लिये घी या

दूधकी आवश्यकता होती है, तो वहाँ घी और दूध सात्विक भोजनके साथ मिलकर भी पुष्टि करते हैं और अकेले-अकेले भी पुष्टि करते हैं। ऐसे ही भगवान्की भक्ति ज्ञानके साधनोंमें मिलकर भी परमात्मप्राप्तिमें सहायक होती है और अकेली भी गुणातीत बना देती है (गीता—चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)। पातंजलयोगदर्शनमें भी परमात्मप्राप्तिके लिये अष्टांगयोगके साधनोंमें सहायकरूपसे 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् भक्तिरूप नियम कहा है<sup>१</sup> और उसी भक्तिको स्वतन्त्ररूपसे भी कहा है<sup>२</sup>। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिरूप साधन अपनी एक अलग विशेषता रखता है। इस विशेषताके कारण भी ज्ञानके साधनोंमें भक्तिका वर्णन किया गया है।

(२) विवेकप्रधान जिज्ञासु वह है, जो सत्-असत्का विचार करते हुए तीव्र विवेक-वैराग्यसे युक्त होकर तत्त्वको जानना चाहता है (इसी अध्यायके उन्नीसवेंसे चौत्तीसवें श्लोकतक)।

विचार करके देखा जाय तो आजकल आध्यात्मिक जिज्ञासाकी कमी और भोगासक्तिकी बहुलताके कारण विवेकप्रधान जिज्ञासु बहुत कम देखनेमें आते हैं। ऐसे साधकोंके लिये भक्तिरूप साधन बहुत उपयोगी है। अतः यहाँ भक्तिका वर्णन करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

**उपाय**—केवल भगवान्को ही अपना मानना और भगवान्का ही आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका जप, कीर्तन, चिन्तन, स्मरण आदि करना ही भक्तिका सुगम उपाय है।

**'विविक्तदेशसेवित्वम्'**—'मैं एकान्तमें रहकर परमात्मतत्त्वका चिन्तन करूँ, भजन-स्मरण करूँ, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करूँ, उस तत्त्वको गहरा उतरकर समझूँ, मेरी वृत्तियोंमें और मेरे साधनमें कोई भी विघ्न-बाधा न पड़े, मेरे साथ कोई न रहे और मैं किसीके साथ न रहूँ'—साधककी ऐसी स्वाभाविक अभिलाषाका नाम 'विविक्तदेश-सेवित्व' है। तात्पर्य यह हुआ कि साधककी रुचि तो एकान्तमें रहनेकी ही होनी चाहिये, पर ऐसा एकान्त न मिले तो मनमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होना चाहिये। उसके मनमें यही विचार होना चाहिये कि संसारके संगका, संयोगका तो स्वतः ही वियोग हो रहा है और स्वरूपमें असंगता स्वतःसिद्ध है। इस स्वतःसिद्ध

असंगतामें संसारका संग, संयोग, सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता। अतः संसारका संग कभी बाधक हो ही नहीं सकता।

केवल निर्जन वन आदिमें जाकर और अकेले पड़े रहकर यह मान लेना कि 'मैं एकान्त स्थानमें हूँ' वास्तवमें भूल ही है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका बीज यह शरीर तो साथमें है ही। जबतक इस शरीरके साथ सम्बन्ध है, तबतक सम्पूर्ण संसारके साथ सम्बन्ध बना ही हुआ है। अतः एकान्त स्थानमें जानेका लाभ तभी है, जब देहाभिमानके नाशका उद्देश्य मुख्य हो।

वास्तविक एकान्त वह है, जिसमें एक तत्त्वके सिवाय दूसरी कोई चीज न उत्पन्न हुई, न है और न होगी। जिसमें न इन्द्रियाँ हैं, न प्राण हैं, न मन है और न अन्तःकरण है। जिसमें न स्थूलशरीर है, न सूक्ष्मशरीर है और न कारणशरीर है। जिसमें न व्यष्टि शरीर है और न समष्टि संसार है। जिसमें केवल एक तत्त्व-ही-तत्त्व है अर्थात् एक तत्त्वके सिवाय और कुछ है ही नहीं। कारण कि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय पहले भी कुछ नहीं था और अन्तमें भी कुछ नहीं रहेगा। बीचमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी प्रतीतिके द्वारा ही प्रतीत हो रहा है अर्थात् जिनसे संसार प्रतीत हो रहा है, वे इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि भी स्वयं प्रतीति ही हैं। अतः प्रतीतिके द्वारा ही प्रतीति हो रही है। हमारा (स्वरूपका) सम्बन्ध शरीर और अन्तःकरणके साथ कभी हुआ ही नहीं; क्योंकि शरीर और अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है और स्वरूप सदा ही प्रकृतिसे अतीत है। इस प्रकार अनुभव करना ही वास्तवमें 'विविक्तदेशसेवित्व' है।

**'अरतिर्जनसंसदि'**—साधारण मनुष्य-समुदायमें प्रीति, रुचि न हो अर्थात् कहाँ क्या हो रहा है, कब क्या होगा, कैसे होगा आदि-आदि सांसारिक बातोंको सुननेकी कोई भी इच्छा न हो तथा समाचार सुनानेवाले लोगोंसे मिलें, कुछ समाचार प्राप्त करें—ऐसी किंचिन्मात्र भी इच्छा, प्रीति न हो। परन्तु हमारेसे कोई तत्त्वकी बात पूछना चाहता है, साधनके विषयमें चर्चा करना चाहता है, उससे मिलनेके लिये मनमें जो इच्छा होती है, वह 'अरतिर्जनसंसदि' नहीं है। ऐसे ही जहाँ तत्त्वकी बात होती हो, आपसमें तत्त्वका विचार होता हो अथवा हमारी दृष्टिमें कोई परमात्मतत्त्वको जाननेवाला हो, ऐसे पुरुषोंके संगकी जो रुचि होती है, वह जनसमुदायमें रुचि नहीं

१-शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगदर्शन २। ३२)

२-ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगदर्शन १। २३)

कहलाती, प्रत्युत वह तो आवश्यक है। कहा भी गया है—  
 संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।  
 स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्॥  
 (मार्कण्डेयपुराण ३७। २३)

अर्थात् आसक्तिपूर्वक किसीका भी संग नहीं करना चाहिये; परन्तु अगर ऐसी असंगता न होती हो, तो श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करना चाहिये। कारण कि श्रेष्ठ पुरुषोंका संग असंगता प्राप्त करनेकी औषध है।

## अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञान- नित्यत्वम्	= अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना,	एतत्	देखना = —यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो	यत्	= जो
तत्त्वज्ञानार्थ- दर्शनम्	= तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह	ज्ञानम्	= ज्ञान है (और)	अतः	= इसके
				अन्यथा	= विपरीत है,
				अज्ञानम्	= वह अज्ञान है—
				इति	= ऐसा
				प्रोक्तम्	= कहा गया है।

व्याख्या—‘अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्’—सम्पूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य मनुष्यको परमात्माकी तरफ लगानेमें, परमात्म-प्राप्ति करानेमें है—ऐसा निश्चय करनेके बाद परमात्मतत्त्व जितना समझमें आया है, उसका मनन करे। युक्ति-प्रयुक्तिसे देखा जाय तो परमात्मतत्त्व भावरूपसे पहले भी था, अभी भी है और आगे भी रहेगा। परन्तु संसार पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा तथा अभी भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। संसारकी तो उत्पत्ति और विनाश होता है, पर उसका जो आधार, प्रकाशक है, वह परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर रहता है। उस परमात्मतत्त्वके सिवाय संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। परमात्माकी सत्तासे ही संसार सत्तावाला दीखता है। इस प्रकार संसारकी स्वतन्त्र सत्ताके अभावका और परमात्माकी सत्ताका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना ‘अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्’ है।

उपाय—आध्यात्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंसे तत्त्वज्ञान-विषयक श्रवण और प्रश्नोत्तर करना।

‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’—तत्त्वज्ञानका अर्थ है— परमात्मा। उस परमात्माका ही सब जगह दर्शन करना, उसका ही सब जगह अनुभव करना ‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’ है। वह परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। एकान्तमें अथवा व्यवहारमें, सब समय साधककी दृष्टि, उसका लक्ष्य केवल उस परमात्मापर ही रहे। एक परमात्माके सिवाय उसको दूसरी कोई सत्ता

दीखे ही नहीं। सब जगह, सब समय समभावसे परिपूर्ण परमात्माको ही देखनेका उसका स्वभाव बन जाय—यही ‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’ है। इसके सिद्ध होनेपर साधकको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा’—‘अमानित्वम्’ से लेकर ‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’ तक ये जो बीस साधन कहे गये हैं, ये सभी साधन देहाभिमान मिटानेवाले होनेसे और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे ‘ज्ञान’ नामसे कहे गये हैं। इन साधनोंसे विपरीत मानित्व, दम्भित्व, हिंसा आदि जितने भी दोष हैं, वे सभी देहाभिमान बढ़ानेवाले होनेसे और परमात्मतत्त्वसे विमुख करनेवाले होनेसे ‘अज्ञान’ नामसे कहे गये हैं।

### विशेष बात

यदि साधकमें इतना तीव्र विवेक जाग्रत् हो जाय कि वह शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग कर सके, तो उसमें यह साधन-समुदाय स्वतः प्रकट हो जाता है। फिर उसको इन साधनोंका अलग-अलग अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। विनाशी शरीरको अपने अविनाशी स्वरूपसे अलग देखना मूल साधन है। अतः सभी साधकोंको चाहिये कि वे शरीरको अपनेसे अलग अनुभव करें, जो कि वास्तवमें अलग ही है!

पूर्वोक्त किसी भी साधनका अनुष्ठान करनेके लिये मुख्यतः दो बातोंकी आवश्यकता है—(१) साधकका

उद्देश्य केवल परमात्माको प्राप्त करना हो और (२) शास्त्रोंको पढ़ते-सुनते समय यदि विवेकद्वारा शरीरको अपनेसे अलग समझ ले, तो फिर दूसरे समयमें भी उसी विवेकपर स्थिर रहे। इन दो बातोंके दृढ़ होनेसे साधन-समुदायके सभी साधन सुगम हो जाते हैं।

शरीर तो बदल गया, पर मैं वही हूँ, जो कि बचपनमें था—यह सबके अनुभवकी बात है। अतः शरीरके साथ अपना सम्बन्ध वास्तविक न होकर केवल माना हुआ है—ऐसा निश्चय होनेपर ही वास्तविक साधन आरम्भ होता है। साधककी बुद्धि जितने अंशमें परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको धारण करती है, उतने ही अंशमें उसमें विवेककी जागृति तथा संसारसे वैराग्य हो जाता है। भगवान्ने विवेक और वैराग्यको पुष्ट करनेके लिये ज्ञानके आवश्यक साधनोंका वर्णन किया है।

जब मनुष्यका उद्देश्य परमात्मप्राप्ति करना ही हो जाता है, तब दुर्गुणों एवं दुराचारोंकी जड़ कट जाती है, चाहे साधकको इसका अनुभव हो या न हो! जैसे वृक्षकी जड़ कटनेपर भी बड़ी टहनीपर लगे हुए पत्ते कुछ दिनतक हरे दीखते हैं; किन्तु वास्तवमें उन पत्तोंके हरेपनकी भी

जड़ कट चुकी है। इसलिये कुछ दिनोंके बाद कटी हुई टहनीके पत्तोंका हरापन मिट जाता है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति का दृढ़ उद्देश्य होते ही दुर्गुण-दुराचार मिट जाते हैं। यद्यपि साधकको आरम्भमें ऐसा अनुभव नहीं होता और उसको अपनेमें अवगुण दीखते हैं, तथापि कुछ समयके बाद उनका सर्वथा अभाव दीखने लग जाता है।

साधन करते समय कभी-कभी साधकको अपनेमें दुर्गुण दिखायी दे सकते हैं। परन्तु वास्तवमें साधनमें लगनेसे पहले उसमें जो दुर्गुण रहे थे, वे ही जाते हुए दिखायी देते हैं। यह नियम है कि दरवाजेसे आनेवाले और जानेवाले—दोनों ही दिखायी देते हैं। यदि साधन करते समय अपनेमें दुर्गुण बढ़ते हुए दीखते हों, तो समझना चाहिये कि दुर्गुण आ रहे हैं। परन्तु यदि अपनेमें दुर्गुण कम होते हुए दीखते हों, तो समझना चाहिये कि दुर्गुण जा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें साधकको निराश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहकर तत्परतापूर्वक साधनमें लगे रहना चाहिये। इस प्रकार साधनमें लगे रहनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है।

**परिशिष्ट भाव**—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान करानेमें हेतु होनेसे इन बीस साधनोंको 'ज्ञान' नामसे कहा गया है। इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है। साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अतः साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको एक देखना) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। परन्तु जो ये साधन करता है, उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विभाग करनेकी योग्यता आ जाती है।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त ज्ञान-(साधन-समुदाय-) के द्वारा जिसको जाना जाता है, उस साध्य-तत्त्वका अब 'ज्ञेय' नामसे वर्णन आरम्भ करते हैं।

**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।  
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥**

यत्	= जो	ज्ञात्वा	= जानकर ( मनुष्य)	तत्	= उसको
ज्ञेयम्	= ज्ञेय ( पूर्वोक्त ज्ञानसे जाननेयोग्य) है,	अमृतम्	= अमरताका	न	= न
तत्	= उस ( परमात्मतत्त्व) को	अश्नुते	= अनुभव कर लेता है ।	सत्	= सत्
प्रवक्ष्यामि	= मैं अच्छी तरहसे कहूँगा,	अनादिमत्	= (वह ज्ञेय-तत्त्व) अनादिवाला	उच्यते	= कहा जा सकता है (और)
यत्	= जिसको	परम्	= (और) परम	न, असत्	= न असत् ही (कहा जा सकता है) ।
		ब्रह्म	= ब्रह्म है ।		

व्याख्या—[इस श्लोकमें भगवान्ने 'प्रवक्ष्यामि' पदसे ज्ञेय तत्त्वका वर्णन करनेके लिये प्रतिज्ञा की है, 'अमृतमश्नुते' पदसे उसे जाननेका फल बताया है, 'अनादिमत्' पदसे उसका लक्षण बताया है, 'परं ब्रह्म' पदोंसे उसका नाम बताया है, और 'न सत्तन्नासदुच्यते' पदोंसे उसका वर्णन किया है।]

'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'—भगवान् यहाँ ज्ञेय तत्त्वके वर्णनका उपक्रम करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं कि जिसकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है, जिसका वर्णन उपनिषदों, शास्त्रों और ग्रन्थोंमें किया गया है, उस प्रापणीय ज्ञेय तत्त्वका मैं अच्छी तरहसे वर्णन करूँगा।

'ज्ञेयम्' (अवश्य जाननेयोग्य) कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जितने भी विषय, पदार्थ, विद्याएँ, कलाएँ आदि हैं, वे सभी अवश्य जाननेयोग्य नहीं हैं। अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मा ही है। कारण कि सांसारिक विषयोंको कितना ही जान लें, तो भी जानना बाकी ही रहेगा। सांसारिक विषयोंकी जानकारीसे जन्म-मरण भी नहीं मिटेगा। परन्तु परमात्माको तत्त्वसे ठीक जान लेनेपर जानना बाकी नहीं रहेगा और जन्म-मरण भी मिट जायगा। अतः संसारमें परमात्माके सिवाय जाननेयोग्य दूसरा कोई है ही नहीं।

'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'—उस ज्ञेय तत्त्वको जाननेपर अमरताका अनुभव हो जाता है अर्थात् स्वतःसिद्ध तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, जिसकी प्राप्ति होनेपर जानना, करना, पाना आदि कुछ भी बाकी नहीं रहता।

वास्तवमें स्वयं पहलेसे ही अमर है, पर उसने मरणशील शरीरादिके साथ एकता करके अपनेको जन्मने-मरनेवाला मान लिया है। परमात्मतत्त्वको जाननेसे यह भूल मिट जाती है और वह अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान लेता है अर्थात् अमरताका अनुभव कर लेता है।

'अनादिमत्'—उससे यावन्मात्र संसार उत्पन्न होता है, उसीमें रहता है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है। परन्तु वह आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। अतः वह 'अनादि' कहा जाता है।

'परं ब्रह्म'—'ब्रह्म' प्रकृतिको भी कहते हैं, वेदको

परिशिष्ट भाव—परमात्मतत्त्वको 'ज्ञेय' कहनेका तात्पर्य है कि वह तत्त्व जाननेयोग्य है, उसको जानना चाहिये और वह जाननेमें शक्य है अर्थात् जाना जा सकता है। वास्तवमें वह तत्त्व जाननेमें आता नहीं है; क्योंकि प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण वह प्रकृतिकी पकड़में नहीं आता। परन्तु वह स्वयंसे प्राप्त किया जा सकता है।

भी कहते हैं, पर 'परम ब्रह्म' तो एक परमात्मा ही है। जिससे बढ़कर दूसरा कोई व्यापक, निर्विकार, सदा रहनेवाला तत्त्व नहीं है, वह 'परम ब्रह्म' कहा जाता है।

'न सत्तन्नासदुच्यते'—उस तत्त्वको 'सत्' भी नहीं कह सकते और 'असत्' भी नहीं कह सकते। कारण कि असत्की भावना-(सत्ता-) के बिना उस परमात्मतत्त्वमें सत् शब्दका प्रयोग नहीं होता, इसलिये उसको 'सत्' नहीं कह सकते और उस परमात्मतत्त्वका कभी अभाव नहीं होता, इसलिये उसको 'असत्' भी नहीं कह सकते। तात्पर्य है कि उस परमात्मतत्त्वमें सत्-असत् शब्दोंकी अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं—ऐसा वह करण-निरपेक्ष तत्त्व है।

जैसे पृथ्वीपर रात और दिन—ये दो होते हैं। इनमें भी दिनके अभावको 'रात' और रातके अभावको 'दिन' कह देते हैं। परन्तु सूर्यमें रात और दिन—ये दो भेद नहीं होते। कारण कि रात तो सूर्यमें है ही नहीं और रातका अत्यन्त अभाव होनेसे सूर्यमें दिन भी नहीं कह सकते; क्योंकि 'दिन' शब्दका प्रयोग रातकी अपेक्षासे किया जाता है। यदि रातकी सत्ता न रहे तो न दिन कह सकते हैं, न रात। ऐसे ही सत्की अपेक्षासे 'असत्' शब्दका प्रयोग होता है और असत्की अपेक्षासे 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। जहाँ परमात्माको 'सत्' कहा जाता है, वहाँ असत्की अपेक्षासे ही कहा जाता है। परन्तु जहाँ असत्का अत्यन्त अभाव है, वहाँ परमात्माको 'सत्' नहीं कह सकते और जो परमात्मा निरन्तर सत् है, उसको 'असत्' नहीं कह सकते। अतः परमात्मामें सत् और असत्—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग नहीं होता। जैसे सूर्य दिन-रात दोनोंसे विलक्षण केवल प्रकाशरूप है, ऐसे ही वह ज्ञेय तत्त्व सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है\*।

दूसरी बात, सत्-असत्का निर्णय बुद्धि करती है और ऐसा कहना भी वहीं होता है, जहाँ वह मन, वाणी और बुद्धिका विषय होता है। परन्तु ज्ञेय तत्त्व मन, वाणी और बुद्धिसे सर्वथा अतीत है; अतः उसकी सत्-असत् संज्ञा नहीं हो सकती।

\* राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥

सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥ (मानस १।११६।३)



प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहा गया है (गीता—इसी अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); अतः दोनोंका मालिक होनेसे परमात्माको यहाँ 'अनादिमत्' अर्थात् अनादिवाला कहा गया है\*। सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपरा प्रकृतिको 'इतीयं मे' कहकर और परा प्रकृति (जीवात्मा)—को 'मे पराम्' कहकर दोनोंको अपने अधीन बताया है; अतः दोनोंके मालिक भगवान् ही हुए। उपनिषद्में भी आया है—

**क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।** (श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो क्षर (परिवर्तनशील) है और इसको भोगनेवाला पुरुष (जीवात्मा) अमृतस्वरूप अक्षर (अपरिवर्तनशील) है। इन दोनों (प्रकृति और पुरुष)—को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आया है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—'सदसच्चाहम्' (९। १९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी हैं—'सदसत्त्परं यत्' (११। ३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)।

—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वह मन, बुद्धि और वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तवमें परमात्मतत्त्वका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, गुण आदिको लेकर ही संज्ञा बनती है। परमात्मामें देश, काल आदि हैं ही नहीं, फिर उनकी संज्ञा कैसे? इसलिये यहाँ आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

परमात्मतत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है, न असत्। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि पर-अपर और सत्-असत्से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करनेकी जो बात कही है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक अर्थात् लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं। इसलिये साधकको भी लक्षककी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिये, केवल सीखनेकी दृष्टिसे नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'वह तत्त्व न सत् कहा जा सकता है, न असत्'—ऐसा कहकर ज्ञेय तत्त्वका निर्गुण-निराकाररूपसे वर्णन किया। अब आगेके श्लोकमें उसी ज्ञेय तत्त्वका सगुण-निराकाररूपसे वर्णन करते हैं।

**सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।**

**सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥**

तत्	= वे (परमात्मा)	सर्वतोऽक्षि-		कानोंवाले हैं।
सर्वतःपाणि-		शिरोमुखम्	= सब जगह नेत्रों,	लोके
पादम्	= सब जगह		सिरों और मुखोंवाले	= (वे) संसारमें
	हाथों और		(तथा)	सर्वम्
	पैरोंवाले,	सर्वतःश्रुतिमत्	= सब जगह	= सबको
				आवृत्य
				= व्याप्त करके
				तिष्ठति
				= स्थित हैं।

\* 'अनादिमत्परं ब्रह्म' पदोंका ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं—'अनादि, मत्परं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म मेरे परायण (आश्रित) है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १३। २७)

**व्याख्या—‘सर्वतः पाणिपादं तत्’**—जैसे स्याहीमें सब जगह सब तरहकी लिपियाँ विद्यमान हैं; अतः लेखक स्याहीसे सब तरहकी लिपियाँ लिख सकता है। सोनेमें सब जगह सब तरहके गहने विद्यमान हैं; अतः सुनार सोनेमें किसी भी जगहसे जो गहना बनाना चाहे, बना सकता है। ऐसे ही भगवान्के सब जगह ही हाथ और पैर हैं; अतः भक्त भक्तिसे जहाँ-कहीं जो कुछ भी भगवान्के हाथोंमें देना चाहता है, अर्पण करना चाहता है, उसको ग्रहण करनेके लिये उसी जगह भगवान्के हाथ मौजूद हैं। भक्त बाहरसे अर्पण करना चाहे अथवा मनसे, पूर्वमें देना चाहे अथवा पश्चिममें, उत्तरमें देना चाहे अथवा दक्षिणमें, उसे ग्रहण करनेके लिये वहीं भगवान्के हाथ मौजूद हैं। ऐसे ही भक्त जलमें, स्थलमें, अग्निमें, जहाँ-कहीं जिस किसी भी संकटमें पड़नेपर भगवान्को पुकारता है, उसकी रक्षा करनेके लिये वहाँ ही भगवान्के हाथ तैयार हैं अर्थात् भगवान् वहाँ ही अपने हाथोंसे उसकी रक्षा करते हैं।

भक्त जहाँ-कहीं भगवान्के चरणोंमें चन्दन लगाना चाहता है, पुष्प चढ़ाना चाहता है, नमस्कार करना चाहता है, उसी जगह भगवान्के चरण मौजूद हैं। हजारों-लाखों भक्त एक ही समयमें भगवान्के चरणोंकी अलग-अलग पूजा करना चाहें, तो उनके भावके अनुसार वहाँ ही भगवान्के चरण मौजूद हैं।

**‘सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्’**—भक्त भगवान्को जहाँ दीपक दिखाता है, आरती करता है, वहाँ ही भगवान्के नेत्र हैं। भक्त जहाँ शरीरसे अथवा मनसे नृत्य करता है, वहाँ ही भगवान् उसके नृत्यको देख लेते हैं। तात्पर्य है कि जो भगवान्को सब जगह देखता है, भगवान् भी उसकी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होते (गीता—छठे अध्यायका तीसवाँ श्लोक)।

भक्त जहाँ भगवान्के मस्तकपर चन्दन लगाना चाहे, पुष्प चढ़ाना चाहे, वहाँ ही भगवान्का मस्तक है।

भक्त जहाँ भगवान्को भोग लगाना चाहे, वहाँ ही भगवान्का मुख है अर्थात् भक्तद्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए

पदार्थको भगवान् वहाँ ही खा लेते हैं (गीता—नवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

**‘सर्वतः श्रुतिमत्’**—भक्त जहाँ-कहीं जोरसे बोलकर प्रार्थना करे, धीरेसे बोलकर प्रार्थना करे अथवा मनसे प्रार्थना करे, वहाँ ही भगवान् अपने कानोंसे सुन लेते हैं।

मनुष्योंके सब अवयव (अंग) सब जगह नहीं होते अर्थात् जहाँ नेत्र हैं, वहाँ कान नहीं होते और जहाँ कान हैं, वहाँ नेत्र नहीं होते; जहाँ हाथ हैं, वहाँ पैर नहीं होते और जहाँ पैर हैं, वहाँ हाथ नहीं होते इत्यादि। परन्तु भगवान्की इन्द्रियाँ, उनके अवयव सब जगह हैं। अतः भगवान् नेत्रोंसे सुन भी सकते हैं, बोल भी सकते हैं, ग्रहण भी कर सकते हैं इत्यादि। तात्पर्य है कि वे सभी अवयवोंसे सभी क्रियाएँ कर सकते हैं; क्योंकि उनके सभी अवयवोंमें सभी अवयव मौजूद हैं। उनके छोटे-से-छोटे अंशमें भी सब-की-सब इन्द्रियाँ हैं।

भगवान्के सब जगह हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कान कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् किसी भी प्राणीसे दूर नहीं हैं। कारण कि भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें परिपूर्णरूपसे विद्यमान हैं। संतोंने कहा है—

चहुँ दिसि आरति चहुँ दिसि पूजा।

चहुँ दिसि राम और नहिं दूजा॥

संसारी आदमीको जैसे बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब जगह संसार-ही-संसार दीखता है, संसारके सिवाय दूसरा कुछ दीखता ही नहीं, ऐसे ही परमात्माको तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषको सब जगह परमात्मा-ही-परमात्मा दीखते हैं।

**‘लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति’**—अनन्त सृष्टियाँ हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त ऐश्वर्य हैं और उन सबमें देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि भी अनन्त हैं, वे सभी परमात्माके अन्तर्गत हैं। परमात्मा उन सबको व्याप्त करके स्थित हैं। दसवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है कि मैं सारे संसारको एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ।

**परिशिष्ट भाव**—परमात्मामें सब जगह सब कुछ है। जैसे, कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं हैं? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा औजार अथवा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही परमात्मामें किस जगह क्या नहीं है? परमात्मासे ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है, उसीमें स्थित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये? कहाँसे आये? इस बातको

साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो फिर परमात्मा दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वही, दूसरी चीज है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २।१।३२)

‘सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्से परे जो कुछ कल्पना की जा सकती है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।’

तात्पर्य है कि सत्ता एक ही है। द्वन्द्वोंमें उलझे रहनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें सगुण-निराकारका वर्णन करके अब आगेके तीन श्लोकोंमें उसकी विलक्षणता, सर्वव्यापकता और सर्वसमर्थताका वर्णन करते हैं।

## सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

सर्वेन्द्रियविवर्जितम् = वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं (और)	असक्तम् = आसक्तिरहित हैं च = और	च, एव = तथा निर्गुणम् = गुणोंसे रहित हैं (और)
सर्वेन्द्रियगुणाभासम् = सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं;	सर्वभृत् = सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं	गुणभोक्तृ = सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।

व्याख्या—‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्’—पहले परमात्मा हैं, फिर परमात्माकी शक्ति प्रकृति है। प्रकृतिका कार्य महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका कार्य अहंकार, अहंकारका कार्य पंचमहाभूत, पंचमहाभूतोंका कार्य मन एवं दस इन्द्रियाँ और दस इन्द्रियोंका कार्य पाँच विषय<sup>१</sup>—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं। परमात्मा प्रकृति और उसके कार्यसे अतीत हैं। वे चाहे सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार, सदा प्रकृतिसे अतीत ही रहते हैं। वे अवतार लेते हैं, तो भी प्रकृतिसे अतीत ही रहते हैं। अवतारके समय वे प्रकृतिको अपने वशमें करके प्रकट होते हैं।

जो अपनेको गुणोंमें लिप्त, गुणोंसे बँधा हुआ मानकर

जन्मता-मरता था, वह बद्ध जीव भी जब परमात्माको प्राप्त होनेपर गुणातीत (गुणोंसे रहित) कहा जाता है, तो फिर परमात्मा गुणोंमें बद्ध कैसे हो सकते हैं? वे तो सदा ही गुणोंसे अतीत (रहित) हैं। अतः वे प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित हैं अर्थात् संसारी जीवोंकी तरह हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान आदि इन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं; किन्तु उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें सर्वथा समर्थ हैं। जैसे—वे कानोंसे रहित होनेपर भी भक्तोंकी पुकार सुन लेते हैं, त्वचासे रहित होनेपर भी भक्तोंका आलिंगन करते हैं, नेत्रोंसे रहित होनेपर भी प्राणिमात्रको निरन्तर देखते रहते हैं, रसनासे रहित होनेपर भी भक्तोंके द्वारा लगाये हुए भोगका आस्वादन

१-विषयोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे ही होता है। इन्द्रियाँ ही विषयोंको प्रकाशित करती हैं। इसलिये विषय इन्द्रियोंका कार्य हैं।

२-(१) अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१९)

‘वे परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होनेपर भी ग्रहण करनेमें समर्थ तथा वेगपूर्वक चलनेवाले हैं। वे नेत्रोंके बिना ही देखते हैं और कानोंके बिना ही सुनते हैं।’

(२) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥

आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥

तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घान बिनु बास असेषा॥ (मानस १।११८।३-४)

करते हैं, आदि-आदि। इस तरह ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी परमात्मा शब्द, स्पर्श आदि विषयोंको ग्रहण करते हैं। ऐसे ही वे वाणीसे रहित होनेपर भी अपने प्यारे भक्तोंसे बातें करते हैं, चरणोंसे रहित होनेपर भी भक्तके पुकारनेपर दौड़कर चले आते हैं, हाथोंसे रहित होनेपर भी भक्तके दिये हुए उपहारको ग्रहण करते हैं, आदि-आदि। इस तरह कर्मेन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी परमात्मा कर्मेन्द्रियोंका सब कार्य करते हैं। यही इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी भगवान्का इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करना है।

**‘असक्तं सर्वभृच्चैव’**—भगवान्का सभी प्राणियोंमें अपनापन, प्रेम है, पर किसी भी प्राणीमें आसक्ति नहीं है। आसक्ति न होनेपर भी वे ब्रह्मासे चींटीपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंका पालन-पोषण करते हैं। जैसे माता-पिता अपने बालकका पालन-पोषण करते हैं, उससे कई गुना अधिक पालन-पोषण भगवान् प्राणियोंका करते हैं। कौन प्राणी

कहाँ है और किस प्राणीको कब किसी वस्तु आदिकी जरूरत पड़ती है, इसको पूरी तरह जानते हुए भगवान् उस वस्तुको आवश्यकतानुसार यथोचित रीतिसे पहुँचा देते हैं। प्राणी पृथ्वीपर हो, समुद्रमें हो, आकाशमें हो अथवा स्वर्गमें हो अर्थात् त्रिलोकीमें कहीं भी कोई छोटा-से-छोटा अथवा बड़ा-से-बड़ा प्राणी हो, उसका पालन-पोषण भगवान् करते हैं। प्राणिमात्रके सुहृद् होनेसे वे अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके द्वारा पाप-पुण्योंका नाश करके प्राणिमात्रको शुद्ध, पवित्र करते रहते हैं।

**‘निर्गुणं गुणभोक्तृ च’**—वे परमात्मा सम्पूर्ण गुणोंसे रहित होनेपर भी सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं। तात्पर्य है कि जैसे माता-पिता बालककी मात्र क्रियाओंको देखकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही परमात्मा भक्तके द्वारा की हुई मात्र क्रियाओंको देखकर प्रसन्न होते हैं, अर्थात् भक्तलोग जो भी क्रियायें करते हैं, उन सब क्रियाओंके भोक्ता भगवान् ही बनते हैं।

**परिशिष्ट भाव**—इस प्रकरणमें ब्रह्मकी मुख्यता होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें ‘समग्र’ परमात्माका वर्णन हुआ है। यह समग्र ही ज्ञेय-तत्त्व है। अतः समग्रकी मुख्यता ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें है—**‘वासुदेवः सर्वम्’** (गीता ७। १९), **‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’** (छान्दोग्य० ३। १४। १)

इस श्लोकका तात्पर्य है कि एक परमात्माके सिवाय और किसीकी भी सत्ता नहीं है। हम जो कुछ भी कहेंगे, वह परमात्मासे अलग नहीं है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है।

## बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

तत्	= वे (परमात्मा)	(प्राणियोंके रूपमें)	(वे ही हैं)
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	एव	= भी (वे ही हैं)
बहिः, अन्तः	= बाहर-भीतर (परिपूर्ण हैं)	च	= एवं
च	= और	दूरस्थम्	= दूर-से-दूर
चरम्, अचरम्	= चर-अचर	च	= तथा
		अन्तिके	= नजदीक-से-नजदीक भी
		च	= और
		तत्	= वे
		सूक्ष्मत्वात्	= अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे
		अविज्ञेयम्	= जाननेमें नहीं आते।

**व्याख्या**—[ज्ञेय तत्त्वका वर्णन बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक—कुल छः श्लोकोंमें हुआ है। उनमेंसे यह पन्द्रहवाँ श्लोक चौथा है। इस श्लोकके अन्तर्गत पहलेके तीन श्लोकोंका और आगेके दो श्लोकोंका भाव भी आ गया है। अतः यह श्लोक इस प्रकरणका सार है।]

**‘बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च’**—जैसे बर्फके बने हुए घड़ोंको समुद्रमें डाल दिया जाय तो उन घड़ोंके बाहर भी जल है, भीतर भी जल है और वे खुद भी (बर्फके बने होनेसे) जल ही हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियोंके बाहर भी परमात्मा हैं, भीतर भी परमात्मा हैं

और वे खुद भी परमात्मस्वरूप ही हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे घड़ोंमें जलके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ जल-ही-जल है, ऐसे ही संसारमें परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व नहीं है अर्थात् सब कुछ परमात्मा- ही-परमात्मा हैं। इसी बातको भगवान्ने महात्माओंकी दृष्टिसे 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७। १९) और अपनी दृष्टिसे 'सदसच्चाहम्' (गीता ९। १९) कहा है।

'दूरस्थं चान्तिके च तत्'—किसी वस्तुका दूर और नजदीक होना तीन दृष्टियोंसे कहा जाता है—देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत। परमात्मा तीनों ही दृष्टियोंसे दूर-से-दूर और नजदीक-से-नजदीक हैं; जैसे—दूर-से-दूर देशमें भी वे ही परमात्मा हैं और नजदीक-से-नजदीक देशमें भी वे ही परमात्मा हैं\*; पहले-से-पहले भी वे ही परमात्मा थे, पीछे-से-पीछे भी वे ही परमात्मा रहेंगे और अब भी वे ही परमात्मा हैं; सम्पूर्ण वस्तुओंके पहले भी वे ही परमात्मा हैं, वस्तुओंके अन्तमें भी वे ही परमात्मा हैं और वस्तुओंके रूपमें भी वे ही परमात्मा हैं।

उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके संग्रह और सुख-भोगकी इच्छा करनेवालेके लिये परमात्मा (तत्त्वतः समीप होनेपर भी) दूर हैं। परन्तु जो केवल परमात्माके ही सम्मुख है, उसके लिये परमात्मा नजदीक हैं। इसलिये साधकको सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करके केवल परमात्म-प्राप्तिकी अभिलाषा जाग्रत् करनी चाहिये। परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मासे नित्ययोगका अनुभव हो जाता है।

'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्'—वे परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं हैं अर्थात् वे परमात्मा इनकी पकड़में नहीं आते। अब प्रश्न उठता है कि जब जाननेमें नहीं आते, तो फिर उनका अभाव होगा? उनका अभाव नहीं है। जैसे परमाणुरूप जल सूक्ष्म होनेसे नेत्रोंसे नहीं दीखता, पर न दीखनेपर भी उसका

अभाव नहीं है। वह जल परमाणुरूपसे आकाशमें रहता है और स्थूल होनेपर बूँदें, ओले आदिके रूपमें दीखने लग जाता है। ऐसे ही परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाननेमें नहीं आते; क्योंकि वे इनसे परे हैं, अतीत हैं।

जीवोंके अज्ञानके कारण ही वे परमात्मा जाननेमें नहीं आते। जैसे, कहींपर 'श्रीमद्भगवद्गीता' शब्द लिखा हुआ है। जो पढ़ा-लिखा नहीं है, उसको तो केवल लकीरें ही दीखती हैं और जो पढ़ा-लिखा है, उसको 'श्रीमद्भगवद्गीता' दीखती है। संस्कृत पढ़े हुएको यह शब्द किस धातुसे बना हुआ है, इसका क्या अर्थ होता है—यह दीखने लग जाता है। गीताका मनन करनेवालेको गीताके गहरे भाव दीखने लग जाते हैं। ऐसे ही जिन मनुष्योंको परमात्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, उनको परमात्मा नहीं दीखते, उनके जाननेमें नहीं आते। परन्तु जिनको परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया है, उनको तो सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा दीखते हैं।

उस परमात्मतत्त्वको 'ज्ञेय' (इसी अध्यायका बारहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक) भी कहा है और 'अविज्ञेय' भी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वयंके द्वारा ही जाना जा सकता है, इसलिये वह 'ज्ञेय' है और वह इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसलिये वह 'अविज्ञेय' है।

सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको जाननेके लिये यह आवश्यक है कि साधक परमात्माको सर्वत्र परिपूर्ण मान ले। ऐसा मानना भी जाननेकी तरह ही है। जैसे (बोध होनेपर) ज्ञान-(जानने-) को कोई मिटा नहीं सकता, ऐसे ही 'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं' इस मान्यता-(मानने-) को कोई मिटा नहीं सकता। जब सांसारिक मान्यताओं—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदिको (जो कि अवास्तविक हैं) कोई मिटा नहीं सकता, तब पारमार्थिक मान्यताओंको (जो कि

\* पृथ्वीसे दूर जल है, जलसे दूर तेज है, तेजसे दूर वायु है, वायुसे दूर आकाश है, आकाशसे दूर महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे दूर प्रकृति है और प्रकृतिसे दूर परमात्मा हैं। इस तरह दूर-से-दूर परमात्मा हैं। दूर-से-दूर होते हुए भी वे परमात्मा व्यापकरूपसे सबमें हैं; क्योंकि परमात्मा सबके कारण हैं और कारण सब कार्यमें रहता है।

प्रकृतिसे नजदीक स्थूलशरीर है, स्थूलशरीरसे नजदीक सूक्ष्मशरीर है, सूक्ष्मशरीरसे नजदीक कारणशरीर है, कारणशरीरसे नजदीक अहम् है और अहम्से नजदीक परमात्मा है। इस तरह नजदीक-से-नजदीक परमात्मा हैं। परमात्मा जितने नजदीक हैं, उतना नजदीक दूसरा कोई भी नहीं है।

वास्तविक हैं) कौन मिटा सकता है? तात्पर्य यह है कि दृढ़तापूर्वक मानना भी एक साधन है। जाननेकी तरह माननेकी भी बहुत महिमा है। 'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण

हैं'—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लेनेपर यह मान्यता मान्यता-रूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे परे जो अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा हैं, उनका अनुभव हो जायगा।

**परिशिष्ट भाव**—परमात्माको बारहवें श्लोकमें 'ज्ञेय' कहा गया है। परन्तु इस श्लोकमें उनको 'अविज्ञेय' कहनेका तात्पर्य है कि परमात्मा ज्ञेय होनेपर भी संसारकी तरह ज्ञेय नहीं हैं। जैसे संसार इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना जाता है, ऐसे परमात्मा इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं जाने जाते। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत हैं। प्रकृतिका कार्य प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकता, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्माको जान ही कैसे सकता है? परमात्माको तो मानकर स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि स्वीकृति स्वयंमें होती है, करण (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ)-में नहीं।\* स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-वर्णन करनेसे नहीं। शरीर-संसारके साथ स्वयंकी एकता कभी हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। परमात्मासे स्वयं कभी अलग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।

## अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

तत्	= वे (परमात्मा)	इव	= तरह		उत्पन्न करनेवाले
अविभक्तम्	= (स्वयं) विभागरहित होते हुए	स्थितम्	= स्थित हैं	च	= तथा
च	= भी	च	= और	भूतभर्तृ	= उनका भरण-पोषण करनेवाले
भूतेषु	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	ज्ञेयम्	= (वे) जाननेयोग्य (परमात्मा ही)	च	= और
विभक्तम्	= विभक्तकी	प्रभविष्णु	= सम्पूर्ण प्राणियोंको	ग्रसिष्णु	= संहार करनेवाले हैं।

**व्याख्या**—'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'—इस त्रिलोकीमें देखने, सुनने और समझनेमें जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी आते हैं, उन सबमें परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी विभक्तकी तरह प्रतीत होते हैं। विभाग केवल प्रतीति है।

जिस प्रकार आकाश घट, मठ आदिकी उपाधिसे घटाकाश, मठाकाश आदिके रूपमें अलग-अलग दीखते हुए भी तत्त्वसे एक ही है, उसी प्रकार परमात्मा भिन्न-भिन्न प्राणियोंके शरीरोंकी उपाधिसे अलग-अलग दीखते हुए भी तत्त्वसे एक ही हैं।

इसी अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' पदोंसे परमात्माको सम्पूर्ण प्राणियोंमें

समभावसे स्थित देखनेके लिये कहा गया है। इसी तरह अठारहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अविभक्तं विभक्तेषु' पदोंसे सात्त्विक ज्ञानका वर्णन करते हुए भी परमात्माको अविभक्तरूपसे देखनेको ही 'सात्त्विक ज्ञान' कहा गया है।

'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'— इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'विद्धि' पदसे जिस परमात्माको जाननेकी बात कही गयी है और बारहवें श्लोकमें जिस 'ज्ञेय' तत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, उसीका यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपसे वर्णन हुआ है। वस्तुतः चेतन तत्त्व (परमात्मा) एक ही है। वे ही परमात्मा रजोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाले; सत्त्वगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे

\* स्वीकृति स्वयंमें होती है, इसलिये स्वीकृतिवाली बात भूली नहीं जाती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ'; 'मैं विवाहित हूँ' आदि। परन्तु मन-बुद्धिमें होनेवाली बात भूली जाती है। स्वीकृतिवाली बातमें कोई सन्देह भी नहीं होता और विपरीत भावना भी नहीं होती।

विष्णुरूपसे सबका भरण-पोषण करनेवाले और तमोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे रुद्ररूपसे सबका संहार करनेवाले हैं। तात्पर्य है कि एक ही परमात्मा सृष्टि, पालन और संहार करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण

करते हैं\*। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि परमात्मा सृष्टि-रचनादि कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न गुणोंको स्वीकार करनेपर भी उन गुणोंके वशीभूत नहीं होते। गुणोंपर उनका पूर्ण आधिपत्य रहता है।

**परिशिष्ट भाव**—इस श्लोकमें परमात्माके समग्ररूपका वर्णन हुआ है। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है, ऐसे ही वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) भी एक है, अविभक्त है। परन्तु जैसे संसार पांचभौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों (जड़-चेतन, स्थावर-जंगम) आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं; क्योंकि दो होनेसे असत् आ जाता है।

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने ज्ञेय तत्त्वका आधाररूपसे वर्णन किया, अब आगेके श्लोकमें उसका प्रकाशकरूपसे वर्णन करते हैं।

## ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

तत्	= वे (परमात्मा)	तमसः	= अज्ञानसे	ज्ञानगम्यम्	= ज्ञानसे प्राप्त
ज्योतिषाम्	= सम्पूर्ण ज्योतियोंके	परम्	= अत्यन्त परे		करनेयोग्य
अपि	= भी	उच्यते	= कहे गये हैं।		(और)
ज्योतिः	= ज्योति (और)	ज्ञानम्	= (वे) ज्ञानस्वरूप,	सर्वस्य	= सबके
		ज्ञेयम्	= जाननेयोग्य,	हृदि	= हृदयमें
				विष्ठितम्	= विराजमान हैं।

**व्याख्या**—‘ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः’—ज्योति नाम प्रकाश-(ज्ञान-) का है अर्थात् जिनसे प्रकाश मिलता है, ज्ञान होता है, वे सभी ज्योति हैं। भौतिक पदार्थ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा, अग्नि, विद्युत् आदिके प्रकाशमें दीखते हैं; अतः भौतिक पदार्थोंकी ज्योति (प्रकाशक) सूर्य, चन्द्र आदि हैं।

वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंका ज्ञान कानसे होता है; अतः शब्दकी ज्योति (प्रकाशक) ‘कान’ है। शीत-उष्ण, कोमल-कठोर आदिके स्पर्शका ज्ञान त्वचासे होता है; अतः स्पर्शकी ज्योति (प्रकाशक) ‘त्वचा’ है। श्वेत, नील, पीत आदि रूपोंका ज्ञान नेत्रसे होता है; अतः रूपकी ज्योति (प्रकाशक) ‘नेत्र’ है। खट्टा, मीठा, नमकीन आदि रसोंका ज्ञान जिह्वासे होता है; अतः रसकी ज्योति

(प्रकाशक) ‘जिह्वा’ है। सुगन्ध-दुर्गन्धका ज्ञान नाकसे होता है; अतः गन्धकी ज्योति (प्रकाशक) ‘नाक’ है। इन पाँचों इन्द्रियोंसे शब्दादि पाँचों विषयोंका ज्ञान तभी होता है, जब उन इन्द्रियोंके साथ मन रहता है। अगर उनके साथ मन न रहे तो किसी भी विषयका ज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रियोंकी ज्योति (प्रकाशक) ‘मन’ है। मनसे विषयोंका ज्ञान होनेपर भी जबतक बुद्धि उसमें नहीं लगती, बुद्धि मनके साथ नहीं रहती, तबतक उस विषयका स्पष्ट और स्थायी ज्ञान नहीं होता। बुद्धिके साथ रहनेसे ही उस विषयका स्पष्ट और स्थायी ज्ञान होता है। अतः मनकी ज्योति (प्रकाशक) ‘बुद्धि’ है। बुद्धिसे कर्तव्य-अकर्तव्य, सत्-असत्, नित्य-अनित्यका ज्ञान होनेपर भी अगर स्वयं (कर्ता) उसको धारण नहीं करता, तो वह बौद्धिक ज्ञान ही

\* सृष्टिस्थित्यन्तकरणार्थं ब्रह्माविष्णुशिवात्मकः । स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० २। ११४)

रह जाता है; वह ज्ञान जीवनमें, आचरणमें नहीं आता। वह बात स्वयंमें नहीं बैठती। जो बात स्वयंमें बैठ जाती है, वह फिर कभी नहीं जाती। अतः बुद्धिकी ज्योति (प्रकाशक) 'स्वयं' है। स्वयं भी परमात्माका अंश है और परमात्मा अंशी है। स्वयंमें ज्ञान, प्रकाश परमात्मासे ही आता है। अतः स्वयंकी ज्योति (प्रकाशक) 'परमात्मा' है। उस स्वयंप्रकाश परमात्माको कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह हुआ कि परमात्माका प्रकाश (ज्ञान) स्वयंमें आता है। स्वयंका प्रकाश बुद्धिमें, बुद्धिका प्रकाश मनमें, मनका प्रकाश इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंका प्रकाश विषयोंमें आता है। मूलमें इन सबमें प्रकाश परमात्मासे ही आता है। अतः इन सब ज्योतियोंका ज्योति, प्रकाशकोंका प्रकाशक परमात्मा ही है\*। जैसे एक-एकके पीछे बैठे हुए परीक्षार्थी अपनेसे आगे बैठे हुएको तो देख सकते हैं, पर अपनेसे पीछे बैठे हुएको नहीं, ऐसे ही अहम्, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि भी अपनेसे आगेवालेको तो देख (जान) सकते हैं, पर अपनेसे पीछेवालेको नहीं। जैसे सबसे पीछे बैठा हुआ परीक्षार्थी अपने आगे बैठे हुए समस्त परीक्षार्थियोंको देख सकता है, ऐसे ही परमप्रकाशक परमात्मा अहम्, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि सबको देखता है, प्रकाशित करता है, पर उसको कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। वह परमात्मा सम्पूर्ण चर-अचर जगत्का समानरूपसे निरपेक्ष प्रकाशक है—'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्' (श्रीमद्भा १०।१३।५५)। वहाँ प्रकाशक, प्रकाश और प्रकाश्य—यह त्रिपुटी नहीं है।

'तमसः परमुच्यते'—वह परमात्मा अज्ञानसे अत्यन्त परे अर्थात् सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—इनमें तो ज्ञान और अज्ञान दोनों आते-जाते हैं; परन्तु जो सबका परम प्रकाशक है, उस परमात्मामें अज्ञान कभी आता ही नहीं, आ सकता ही नहीं और आना सम्भव ही नहीं। जैसे सूर्यमें अँधेरा कभी आता ही नहीं, ऐसे ही उस परमात्मामें अज्ञान कभी आता ही नहीं। अतः उस परमात्माको अज्ञानसे अत्यन्त परे कहा गया है।

'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'—उस परमात्मामें कभी अज्ञान नहीं आता। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और उसीसे सबको प्रकाश मिलता है। अतः उस परमात्माको 'ज्ञान' अर्थात्

ज्ञानस्वरूप कहा गया है।

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा भी (जाननेमें आनेवाले) विषयोंका ज्ञान होता है, पर वे अवश्य जाननेयोग्य नहीं हैं; क्योंकि उनको जान लेनेपर भी जानना बाकी रह जाता है, जानना पूरा नहीं होता। वास्तवमें अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मा ही है—'अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥' (मानस १।२२९।३) उस परमात्माको जान लेनेके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान्ने अपने लिये कहा है कि 'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ' (पन्द्रहवाँ श्लोक); 'जो मुझे जान लेता है, वह सर्ववित् हो जाता है' (उन्नीसवाँ श्लोक)। अतः परमात्माको 'ज्ञेय' कहा गया है।

ज्ञानके द्वारा असत्का त्याग होनेपर परमात्माको तत्त्वसे जाना जा सकता है। अतः उस परमात्माको 'ज्ञानगम्य' कहा गया है।

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'—वह परमात्मा सबके हृदयमें नित्य-निरन्तर विराजमान है। तात्पर्य है कि यद्यपि वह परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें परिपूर्णरूपसे व्यापक है, तथापि उसका प्राप्तिस्थान तो हृदय ही है।

उस परमात्माका अपने हृदयमें अनुभव करनेका उपाय है—

(१) मनुष्य हरेक विषयको जानता है तो उस जानकारीमें सत् और असत्—ये दोनों रहते हैं। इन दोनोंका विभाग करनेके लिये साधक यह अनुभव करे कि मेरी जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और बालकपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थाएँ तो भिन्न-भिन्न हुईं, पर मैं एक रहा। सुखदायी-दुःखदायी, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आयीं और चली गयीं, पर उनमें मैं एक ही रहा। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिका संयोग-वियोग हुआ, पर उनमें भी मैं एक ही रहा। तात्पर्य यह हुआ कि अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ, संयोग-वियोग तो भिन्न-भिन्न (तरह-तरहके) हुए, पर उन सबमें जो एक ही रहा है, भिन्न-भिन्न नहीं हुआ है, उसका (उन सबसे अलग करके) अनुभव करे। ऐसा करनेसे जो सबके हृदयमें विराजमान है, उसका अनुभव हो जायगा; क्योंकि यह स्वयं परमात्मासे अभिन्न है।

\* (१) विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ (मानस १।११७।३)

(२) जो ज्योतियोंका ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता। अव्यय सनातन दिव्य दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता॥



(२) जैसे अत्यन्त भूखा अन्नके बिना और अत्यन्त प्यासा जलके बिना रह नहीं सकता, ऐसे ही उस परमात्माके बिना रह नहीं सके, बेचैन हो जाय। उसके बिना न भूख लगे, न प्यास लगे और न नींद आये। उस परमात्माके सिवाय और कहीं वृत्ति जाय ही नहीं। इस तरह

परमात्माको पानेके लिये व्याकुल हो जाय तो अपने हृदयमें उस परमात्माका अनुभव हो जायगा।

इस प्रकार एक बार हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जानेपर साधकको 'सब जगह परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है। यही वास्तविक अनुभव है।

**परिशिष्ट भाव**—बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन हुआ है, वह भगवान्का समग्ररूप ('वासुदेवः सर्वम्') ही है। कारण कि इसमें निर्गुण-निराकार (बारहवाँ श्लोक), सगुण-निराकार (तेरहवाँ श्लोक) और सगुण-साकार (सोलहवाँ श्लोक)—तीनों ही रूपोंका वर्णन हुआ है।

**'ज्ञानगम्यम्'**—परमात्मा तत्त्वज्ञानसे ही जाने जाते हैं, क्रिया, वस्तु आदिसे नहीं। तत्त्वज्ञानके सिवाय उनको जाननेका दूसरा कोई साधन नहीं है। मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जिस साधनसे परमात्माको जानेगा, वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, भगवत्कृपा आदिसे भी जानेगा तो तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। कारण कि जानना ज्ञानसे ही होता है।

यहाँ 'ज्ञानगम्यम्' पदका अर्थ 'साधन-समुदायसे प्राप्त होनेयोग्य' भी लिया जा सकता है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

**सम्बन्ध**—पहले श्लोकसे सत्रहवें श्लोकतक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका जो वर्णन हुआ है, अब आगेके श्लोकमें फलसहित उसका उपसंहार करते हैं।

**इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।**

**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥**

इति	= इस प्रकार	ज्ञेयम्	= ज्ञेयको	विज्ञाय	= तत्त्वसे
क्षेत्रम्	= क्षेत्र	समासतः	= संक्षेपसे		जानकर
तथा	= तथा	उक्तम्	= कहा गया है।	मद्भावाय	= मेरे भावको
ज्ञानम्	= ज्ञान	मद्भक्तः	= मेरा भक्त	उपपद्यते	= प्राप्त हो
च	= और	एतत्	= इसको		जाता है।

**व्याख्या**—'इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः'— इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकमें जिसका वर्णन किया गया है, वह 'क्षेत्र' है; सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक जिस साधन-समुदायका वर्णन किया गया है, वह 'ज्ञान' है और बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिसका वर्णन किया गया है, वह 'ज्ञेय' है। इस तरह मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका संक्षेपसे वर्णन किया है।

**'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'**—मेरा भक्त

क्षेत्रको, साधन-समुदायरूप ज्ञानको और ज्ञेय तत्त्व-(परमात्मा-) को तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।

क्षेत्रको ठीक तरहसे जान लेनेपर क्षेत्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ज्ञानको अर्थात् साधन-समुदायको ठीक तरहसे जाननेसे, अपनानेसे देहाभिमान (व्यक्तित्व) मिट जाता है। ज्ञेय तत्त्वको ठीक तरहसे जान लेनेपर उसकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

**परिशिष्ट भाव**—यहाँ 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय' पदोंका तात्पर्य है कि समग्र परमात्माका ज्ञान भक्तिसे ही हो सकता है\*। अतः साधकको भक्त होना चाहिये।

इस श्लोकमें आये 'मद्भावायोपपद्यते' पदको गीतामें कई प्रकारसे कहा गया है; जैसे— 'मद्भावमागताः' (४। १०), 'मम साधर्म्यमागताः' (१४। २), 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' (१४। १९)। 'मद्भाव' का अर्थ है—मुझ

\* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई ॥ (मानस, उत्तर० ४९। ३)

परमात्माकी सत्ता। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। भगवान्ने गीतामें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें ही अपने भावकी प्राप्ति बतायी है। 'ज्ञान' में इसका तात्पर्य है—ब्रह्मसे साधर्म्य होना अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दरूप है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषका भी सत्-चित्-आनन्दरूप होना। 'भक्ति' में इसका तात्पर्य है—भक्तकी भगवान्के साथ आत्मीयता अर्थात् अभिन्नता होना।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें जिस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संक्षेपसे वर्णन किया था, उसीका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।  
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥  
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।  
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

प्रकृतिम्	= प्रकृति	गुणान्	= गुणोंको	हेतुः	= हेतु
च	= और	अपि	= भी	उच्यते	= कही जाती है
पुरुषम्	= पुरुष	प्रकृतिसम्भवान्, एव	= प्रकृतिसे ही उत्पन्न	(और)	
उभौ	= दोनोंको	विद्धि	= समझो।	सुखदुःखानाम्	= सुख- दुःखोंके
एव	= ही (तुम)	कार्यकरणकर्तृत्वे	= कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें	भोक्तृत्वे	= भोक्तापनमें
अनादी	= अनादि	प्रकृतिः	= प्रकृति	पुरुषः	= पुरुष
विद्धि	= समझो			हेतुः	= हेतु
च	= और			उच्यते	= कहा जाता है।
विकारान्	= विकारोंको				
च	= तथा				

व्याख्या—[इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रके विषयमें 'यच्च' (जो है), 'यादृक् च' (जैसा है), 'यद्विकारि' (जिन विकारोंवाला है) और 'यतश्च यत्' (जिससे जो उत्पन्न हुआ है)—ये चार बातें सुननेकी आज्ञा दी थी। उनमेंसे 'यच्च' का वर्णन पाँचवें श्लोकमें और 'यद्विकारि' का वर्णन छठे श्लोकमें कर दिया। 'यादृक् च' का वर्णन आगे इसी अध्यायके छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें करेंगे। अब 'यतश्च यत्' का वर्णन करते हुए प्रकृतिसे विकारों और गुणोंको उत्पन्न हुआ बताते हैं। इसमें भी देखा जाय तो विकारोंका वर्णन पहले छठे श्लोकमें 'इच्छा द्वेषः' आदि पदोंसे किया जा चुका है। यहाँ गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं—यह बात नयी बतायी है।

बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक 'ज्ञेय तत्त्व'—(परमात्मा—) का वर्णन है और यहाँ उन्नीसवेंसे चौतीसवें श्लोकतक 'पुरुष'—(क्षेत्रज्ञ—) का वर्णन है। वहाँ तो ज्ञेय

तत्त्वके अन्तर्गत ही सब कुछ है और यहाँ पुरुषके अन्तर्गत सब कुछ है अर्थात् वहाँ ज्ञेय तत्त्वके अन्तर्गत पुरुष है और यहाँ पुरुषके अन्तर्गत ज्ञेय तत्त्व है। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय तत्त्व (परमात्मा) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ)—दोनों तत्त्वसे दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं।]

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'—यहाँ 'प्रकृतिम्' पद सम्पूर्ण क्षेत्र—(जगत्—)की कारणरूप मूल प्रकृतिका वाचक है। सात प्रकृति-विकृति (पंचमहाभूत, अहंकार और महत्तत्त्व) तथा सोलह विकृति (दस, इन्द्रियाँ, मन और पाँच विषय)—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं और प्रकृति इन सबकी मूल कारण है।

'पुरुषम्' पद यहाँ क्षेत्रज्ञका वाचक है, जिसको इसी अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रको जाननेवाला कहा गया है।

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहनेका तात्पर्य है कि जैसे परमात्माका अंश यह पुरुष (जीवात्मा) अनादि

है, ऐसे ही यह प्रकृति भी अनादि है। इन दोनोंके अनादिपनेमें फर्क नहीं है; किन्तु दोनोंके स्वरूपमें फर्क है। जैसे—प्रकृति गुणोंवाली है और पुरुष गुणोंसे सर्वथा रहित है; प्रकृतिमें विकार होता है और पुरुषमें विकार नहीं होता; प्रकृति जगत्की कारण बनती है और पुरुष किसीका भी कारण नहीं बनता; प्रकृतिमें कार्य एवं कारण-भाव है और पुरुष कार्य एवं कारण-भावसे रहित है।

‘उभौ एव’ कहनेका तात्पर्य है कि प्रकृति और पुरुष—दोनों अलग-अलग हैं। अतः जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही उन दोनोंका यह भेद (विवेक) भी अनादि है।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आये ‘इदं शरीरं क्षेत्रम्’ पदोंसे मनुष्य-शरीरकी तरफ ही दृष्टि जाती है अर्थात् व्यष्टि मनुष्य-शरीरका ही बोध होता है और ‘क्षेत्रज्ञः’ पदसे मनुष्य-शरीरको जाननेवाले व्यष्टि क्षेत्रज्ञका ही बोध होता है। अतः प्रकृति और उसके कार्यमात्रका बोध करानेके लिये यहाँ ‘प्रकृतिम्’ पदका और मात्र क्षेत्रज्ञोंका बोध करानेके लिये यहाँ ‘पुरुषम्’ पदका प्रयोग किया गया है।

इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ एकता जाननेके लिये ‘विद्धि’ पदका प्रयोग किया था और यहाँ पुरुषकी प्रकृतिसे भिन्नता जाननेके लिये ‘विद्धि’ पदका प्रयोग किया गया है। तात्पर्य है कि मनुष्य स्वयंको और शरीरको एक समझता है, इसलिये भगवान् यहाँ ‘विद्धि’ पदसे अर्जुनको यह आज्ञा देते हैं कि ये दोनों सर्वथा अलग-अलग हैं—इस बातको तुम ठीक तरहसे समझ लो।

‘विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्’—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—इन सात विकारोंको तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुए समझो। इसका तात्पर्य यह है कि पुरुषमें विकार और गुण नहीं हैं।

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें तो भगवान्ने गुणोंको अपनेसे उत्पन्न बताया है और यहाँ गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बताते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ भक्तिका प्रकरण होनेसे भगवान्ने गुणोंको अपनेसे उत्पन्न बताया है और गुणमयी मायासे तरनेके लिये अपनी शरणागति बतायी है। परन्तु यहाँ ज्ञानका प्रकरण होनेसे गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बताया है। अतः साधक गुणोंसे

अपना सम्बन्ध न मानकर ही गुणोंसे छूट सकता है।

‘कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते’—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन दस- (महाभूतों और विषयों-)का नाम ‘कार्य’ है। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा तथा मन, बुद्धि और अहंकार—इन तेरह- (बहिःकरण और अन्तःकरण-)का नाम ‘करण’ है। इन सबके द्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, उनको उत्पन्न करनेमें प्रकृति ही हेतु है।

जो उत्पन्न होता है, वह ‘कार्य’ कहलाता है और जिसके द्वारा कार्यकी सिद्धि होती है, वह ‘करण’ कहलाता है अर्थात् क्रिया करनेके जितने औजार (साधन) हैं, वे सब ‘करण’ कहलाते हैं। करण तीन तरहके होते हैं—(१) कर्मेन्द्रियाँ, (२) ज्ञानेन्द्रियाँ और (३) मन, बुद्धि एवं अहंकार। कर्मेन्द्रियाँ स्थूल हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं और मन, बुद्धि एवं अहंकार अत्यन्त सूक्ष्म हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको ‘बहिःकरण’ कहते हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकारको ‘अन्तःकरण’ कहते हैं। जिनसे क्रियाएँ होती हैं, वे कर्मेन्द्रियाँ हैं और कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंपर जो शासन करते हैं, वे मन, बुद्धि और अहंकार हैं। तात्पर्य है कि कर्मेन्द्रियोंपर ज्ञानेन्द्रियोंका शासन है, ज्ञानेन्द्रियोंपर मनका शासन है, मनपर बुद्धिका शासन है और बुद्धिपर अहंकारका शासन है। मन, बुद्धि और अहंकारके बिना कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ काम नहीं करतीं। ज्ञानेन्द्रियोंके साथ जब मनका सम्बन्ध हो जाता है, तब विषयोंका ज्ञान होता है। मनसे जिन विषयोंका ज्ञान होता है, उन विषयोंमेंसे कौन-सा विषय ग्राह्य है और कौन-सा त्याज्य है, कौन-सा विषय ठीक है और कौन-सा बेठीक है—इसका निर्णय बुद्धि करती है। बुद्धिके द्वारा निर्णीत विषयोंपर अहंकार शासन करता है।

अहंकार दो तरहका होता है—(१) अहंवृत्ति और (२) अहंकर्ता। अहंवृत्ति किसीके लिये कभी दोषी नहीं होती, पर उस अहंवृत्तिके साथ जब स्वयं (पुरुष) अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तादात्म्य कर लेता है, तब वह अहंकर्ता बन जाता है। तात्पर्य है कि अहंवृत्तिसे मोहित होकर, उसके परवश होकर स्वयं उस अहंवृत्तिमें अपनी स्थिति मान लेता है तो वह कर्ता बन जाता है—‘अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते’ (गीता ३। २७)।

प्रकृतिका कार्य बुद्धि (महत्तत्त्व) है और बुद्धिका कार्य अहंवृत्ति (अहंकार) है। यह अहंवृत्ति है तो बुद्धिका कार्य,

पर इसके साथ तादात्म्य करके स्वयं बुद्धिका मालिक बन जाता है अर्थात् कर्ता और भोक्ता बन जाता है—‘पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजानुणान्’ (गीता १३। २१)। परन्तु जब तत्त्वका बोध हो जाता है, तब स्वयं न कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है—‘शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते’ (गीता १३। ३१)। फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित पुरुषके शरीरद्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, वे सब क्रियाएँ अहंवृत्तिसे ही होती हैं। इसी अहंवृत्तिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको गीतामें कई तरहसे बताया गया है; जैसे—प्रकृतिके द्वारा ही सब क्रियाएँ होती हैं। (तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक); प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब क्रियाएँ होती हैं (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक); गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है (चौदहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं (पाँचवें अध्यायका नवाँ श्लोक) आदि। तात्पर्य है कि बहिःकरण और अन्तःकरणके द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, वे सब प्रकृतिसे ही होती हैं।

‘पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते’—अनुकूल परिस्थितिके आनेपर सुखी (राजी) होना—यह सुखका भोग है और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर दुःखी (नाराज) होना—यह दुःखका भोग है। यह सुख-दुःखका भोग पुरुष-(चेतन-)में ही होता है—प्रकृति-(जड-)में नहीं; क्योंकि जड प्रकृतिमें सुखी-दुःखी होनेकी सामर्थ्य नहीं है। अतः सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा गया है। अगर पुरुष अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंसे मिलकर राजी-नाराज न हो तो वह सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बन सकता।

सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपरा (जड) और परा (चेतन) नामसे अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है। ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्के स्वभाव हैं, इसलिये ये दोनों स्वतः ही भगवान्की ओर जा रही हैं। परन्तु परा प्रकृति (चेतन), जो परमात्माका अंश है और जिसकी स्वाभाविक रुचि परमात्माकी ओर जानेकी ही है, तात्कालिक सुखभोगमें आकर्षित होकर

अपरा प्रकृति-(जड-)के साथ तादात्म्य कर लेता है। इतना ही नहीं, प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके वह ‘प्रकृतिस्थ पुरुष’के रूपमें अपनी एक स्वतन्त्र सत्ताका निर्माण कर लेता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), जिसको ‘अहम्’ कहते हैं। इस ‘अहम्’ में जड और चेतन दोनों हैं। सुख-दुःखरूप जो विकार होता है, वह जड-अंशमें ही होता है, पर जडसे तादात्म्य होनेके कारण उसका परिणाम ज्ञाता चेतनपर होता है अर्थात् जडके सम्बन्धसे सुख-दुःखरूप विकारको चेतन अपनेमें मान लेता है कि ‘मैं सुखी हूँ’, ‘मैं दुःखी हूँ’। जैसे, घाटा लगता है दूकानमें, पर दूकानदार कहता है कि मुझे घाटा लग गया। ज्वर शरीरमें आता है, पर मान लेता है कि मेरेमें ज्वर आ गया। स्वयंमें ज्वर नहीं आता\*, यदि आता तो कभी मिटता नहीं।

सुख-दुःखका परिणाम चेतनपर होता है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्ति चाहता है। अगर वह सुखी-दुःखी न हो, तो उसमें मुक्तिकी इच्छा हो ही नहीं सकती। मुक्तिकी इच्छा जडके सम्बन्धसे ही होती है; क्योंकि जडको स्वीकार करनेसे ही बन्धन हुआ है। जो अपनेको सुखी-दुःखी मानता है, वही सुख-दुःखरूप विकारसे अपनी मुक्ति चाहता है और उसीकी मुक्ति होती है। तात्पर्य है कि तादात्म्यमें मुक्ति-(कल्याण-) की इच्छामें चेतनकी मुख्यता और भोगोंकी इच्छामें जडकी मुख्यता होती है, इसलिये अन्तमें कल्याणका भागी चेतन ही होता है, जड नहीं।

विकृतिमात्र जडमें ही होती है, चेतनमें नहीं। अतः वास्तवमें सुखी-दुःखी ‘होना’ चेतनका धर्म नहीं है, प्रत्युत जडके संगसे अपनेको सुखी-दुःखी ‘मानना’ ज्ञाता चेतनका स्वभाव है। तात्पर्य है कि चेतन सुखी-दुःखी होता नहीं, प्रत्युत (सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिसे मिलकर) अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। चेतनमें एक-दूसरेसे विरुद्ध सुख-दुःखरूप दो भाव हो ही कैसे सकते हैं? दो रूप परिवर्तनशील प्रकृतिमें ही हो सकते हैं। जो परिवर्तनशील नहीं है, उसके दो रूप नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि सब विकार परिवर्तनशीलमें ही हो सकते हैं। चेतन स्वयं ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी परिवर्तनशील प्रकृतिके संगसे उसके विकारोंको अपनेमें आरोपित करता रहता है। यह

\* आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्चरेत्॥

(बृहदारण्यक ४।४।१२)

‘यदि पुरुष आत्माको ‘मैं यही हूँ’ इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके ज्वर-(ताप-)से अनुत्पन्न हो?’

सबका अनुभव भी है कि हम सुखमें दूसरे तथा दुःखमें हैं, पर हम एक ही रहते हैं; इसीलिये कभी सुखी होते दूसरे नहीं हो जाते। सुख और दुःख दोनों अलग-अलग हैं और कभी दुःखी होते हैं।

**परिशिष्ट भाव**— भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ही प्रकृति और पुरुषके नामसे पुनः वर्णन करते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ व्यष्टि हैं और प्रकृति-पुरुष समष्टि हैं।

एक प्रकृति-विभाग है और एक पुरुष-विभाग है। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें हैं और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है। अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं अर्थात् दोनोंमें किंचिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति तो असत्, जड़ तथा दुःखरूप है और पुरुष सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। प्रकृति नाशवान्, विकारी तथा क्रियाशील है और पुरुष अविनाशी, निर्विकार तथा अक्रिय है। प्रकृतिकी नित्यनिवृत्ति है और पुरुषकी नित्यप्राप्ति है। गीताके आरम्भमें भी भगवान्ने इसी विभागका वर्णन शरीर और शरीरी, देह और देही, सत् और असत् आदि नामोंसे किया है।<sup>१</sup> अतः इस विभागको ठीक-ठीक समझना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक तथा शीघ्र बोध करानेवाला है। कारण कि शरीर और शरीरीको एक मानना ही बन्धन है और इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है।

भगवान् शक्तिमान् हैं और प्रकृति उनकी शक्ति है।<sup>२</sup> ज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अलग-अलग हैं, क्योंकि शक्तिमें तो परिवर्तन (घटना-बढ़ना) होता है, पर शक्तिमान् ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि शक्तिको शक्तिमान्से अलग नहीं कर सकते अर्थात् शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही भगवान्ने प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत 'अनादि' कहा है। कारण कि अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन हो जायगा; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन हो जायगा; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न है—'सदसच्चाहम्' (गीता ९। १९)। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति और पुरुषका स्वभाव अलग-अलग होते हुए भी दोनों परस्पर अभिन्न ही हैं।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप 'समग्र' है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव नहीं है। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति) के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये यहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको 'अनादि' कहा गया है।

*सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने पुरुषको सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु बताया। इसपर प्रश्न होता है कि कौन-सा पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता बनता है? इसका उत्तर अब भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।*

**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।**

**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥**

प्रकृतिस्थः	= प्रकृतिमें स्थित	भुङ्क्ते	= भोक्ता बनता है	सदसद्योनिजन्मसु	= ऊँच-नीच
पुरुषः	= पुरुष (जीव)		(और)		योनियोंमें जन्म
हि	= ही	गुणसङ्गः	= गुणोंका संग		लेनेका
प्रकृतिजान्	= प्रकृतिजन्य		(ही)	कारणम्	= कारण
गुणान्	= गुणोंका	अस्य	= इसके		बनता है।

१-पुरुष ही अहम्को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है।

२-'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतर० ४। १०)

**व्याख्या—‘पुरुषः प्रकृतिस्थो\* हि भुङ्क्ते प्रकृतिजानुगान्—**वास्तवमें पुरुष प्रकृति-(शरीर-) में स्थित है ही नहीं। परन्तु जब वह प्रकृति-(शरीर-)के साथ तादात्म्य करके शरीरको ‘मैं’ और ‘मेरा’ मान लेता है, तब वह प्रकृतिमें स्थित कहा जाता है। ऐसा प्रकृतिस्थ पुरुष ही (गुणोंके द्वारा रचित अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको सुखदायी-दुःखदायी मानकर) अनुकूल परिस्थितिके आने-पर सुखी होता है और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर दुःखी होता है। यही पुरुषका प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनना है।

जैसे मोटर-दुर्घटनामें मोटर और चालक—दोनोंका हाथ रहता है। क्रियाके होनेमें तो केवल मोटरकी ही प्रधानता रहती है, पर दुर्घटनाका फल (दण्ड) मोटरसे अपना सम्बन्ध जोड़नेवाले चालक-(कर्ता-) को ही भोगना पड़ता है। ऐसे ही सांसारिक कार्योंको करनेमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंका हाथ रहता है। क्रियाओंके होनेमें तो केवल शरीरकी ही प्रधानता रहती है, पर सुख-दुःखरूप फल शरीरसे अपना सम्बन्ध जोड़नेवाले पुरुष-(कर्ता-) को ही भोगना पड़ता है। अगर वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े और सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा ही होती हुई माने (गीता—तेरहवें अध्यायका उन्तीसवाँ श्लोक), तो वह उन क्रियाओंका फल भोगनेवाला नहीं बनेगा।

**‘कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’—**जिन योनियोंमें सुखकी बहुलता होती है, उनको ‘सत्-योनि’ कहते हैं और जिन योनियोंमें दुःखकी बहुलता होती है, उनको ‘असत्-योनि’ कहते हैं। पुरुषका सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणोंका संग ही है।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न

**परिशिष्ट भाव—**भगवान्ने उन्तीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें एवं बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें ‘प्रकृति’ का वर्णन किया है और बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें और यहाँ इक्कीसवें श्लोकमें ‘पुरुष’ का वर्णन किया है।

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध ही ‘गुणसंग’ है, जो जन्म-मरणका कारण है। गुणोंका संग अनित्य है और गुणोंसे असंगता नित्य है। असंगता हमारा स्वरूप है—‘**असंगो ह्ययं पुरुषः**’ (बृहदा० ४। ३। १५)। अगर हम अनित्य (गुणोंके संग)—को न पकड़ें तो जन्म-मरण ही नहीं सकता।

‘मैं’ जड़ (प्रकृति) है और ‘हूँ’ चेतन (पुरुष) है तथा ‘मैं हूँ’—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस ‘मैं हूँ’ में ही कर्तापन और भोक्तापन रहता है। अगर ‘मैं’ न रहे तो ‘हूँ’ नहीं रहेगा, प्रत्युत ‘है’ रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य

होते हैं। इन तीनों गुणोंसे ही सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिस्थ पुरुष जब इन गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब ये उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बन जाते हैं।

प्रकृतिमें स्थित होनेसे ही पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है और यह गुणोंका संग, आसक्ति, प्रियता ही पुरुषको ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण बनती है। अगर यह प्रकृतिस्थ न हो, प्रकृति-(शरीर-) में अहंता-ममता न करे, अपने स्वरूपमें स्थित रहे, तो यह पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता कभी नहीं बनता, प्रत्युत सुख-दुःखमें सम हो जाता है, स्वस्थ हो जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। अतः यह प्रकृतिमें भी स्थित हो सकता है और अपने स्वरूपमें भी। अन्तर इतना ही है कि प्रकृतिमें स्थित होनेमें तो यह परतन्त्र है और स्वरूपमें स्थित होनेमें यह स्वाभाविक स्वतन्त्र है। बन्धनमें पड़ना इसका अस्वाभाविक है और मुक्त होना इसका स्वाभाविक है। इसलिये बन्धन इसको सुहाता नहीं है और मुक्त होना इसको सुहाता है।

जहाँ प्रकृति और पुरुष—दोनोंका भेद (विवेक) है, वहाँ ही प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेका, सम्बन्ध जोड़नेका अज्ञान है। इस अज्ञानसे ही यह पुरुष स्वयं प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है। तादात्म्य कर लेनेसे यह पुरुष अपनेको प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति-(शरीर-) में स्थित मान लेता है। प्रकृतिस्थ होनेसे शरीरमें ‘मैं’ और ‘मेरा-पन’ हो जाता है। यही गुणोंका संग है। इस गुणसंगसे पुरुष बँध जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। गुणोंके द्वारा बँध जानेसे ही पुरुषकी गुणोंके अनुसार गति होती है (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

\* यहाँ पुरुषको ‘प्रकृतिस्थ’ कहनेका तात्पर्य ‘शरीरस्थ’ कहना ही है। उन्तीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषका प्रकरण चल रहा है, इसीलिये यहाँ पुरुषको प्रकृतिस्थ कहा गया है। वास्तवमें पुरुष प्रकृतिस्थ अथवा शरीरस्थ नहीं है। अपनेको स्वस्थ न माननेसे अर्थात् ‘स्व’ में अपनी स्थितिका अनुभव न करनेसे ही वह अपनेको शरीरस्थ मानता है।

न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही अहम् तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है' का स्वरूप होनेसे) 'है' में ही विलीन हो जाता है। 'है' में कर्तापन और भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' 'कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी इसका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेपर भी मनुष्य आगन्तुक सुख-दुःखके साथ मिलकर सुखी-दुःखी हो जाता है। इसका कारण यह है कि सुखकी आसक्ति और दुःखका भय रहनेसे 'मैं' अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं—यह विवेक काम नहीं करता। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत शरीरके साथ मिलकर अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःख केवल अविवेकपूर्वक की गयी मान्यतापर टिके हुए हैं।

सम्बन्ध—उन्नीसवें, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृति और पुरुषका वर्णन हुआ। अब आगेके श्लोकमें पुरुषका विशेषतासे वर्णन करते हैं।

## उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

यह पुरुष—

उपद्रष्टा	= (शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे) 'उपद्रष्टा',	भोक्ता	= (उसके संगसे सुख-दुःख भोगनेसे) 'भोक्ता'	परमात्मा	= 'परमात्मा'—
अनुमन्ता	= (उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे) 'अनुमन्ता',	च	= और	इति	= इस नामसे
भर्ता	= (अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे) 'भर्ता',	महेश्वरः	= (अपनेको उसका स्वामी माननेसे) 'महेश्वर' (बन जाता है) ।	उक्तः	= कहा जाता है । (यह)
		च	= परन्तु	अस्मिन्	= इस
		पुरुषः	= (स्वरूपसे यह) पुरुष	देहे, अपि	= देहमें रहता हुआ भी (देहसे)
				परः	= पर (सर्वथा सम्बन्धरहित) ही है।

व्याख्या—'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः'—यह पुरुष स्वरूपसे नित्य है, सब जगह परिपूर्ण है, स्थिर है, अचल है, सदा रहनेवाला है (गीता—दूसरे अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। ऐसा होता हुआ भी जब यह प्रकृति और उसके कार्य शरीरकी तरफ दृष्टि डालता है अर्थात् उनके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तब इसकी 'उपद्रष्टा' संज्ञा हो जाती है।

यह हरेक कार्यके करनेमें सम्मति, अनुमति देता है। अतः इसका नाम 'अनुमन्ता' है।

यह एक व्यष्टि शरीरके साथ मिलकर, उसके साथ तादात्म्य करके अन्न-जल आदिसे शरीरका पालन-पोषण करता है; शीत-उष्ण आदिसे उसका संरक्षण करता है।

अतः इसका नाम 'भर्ता' हो जाता है।

यह शरीरके साथ मिलकर अनुकूल परिस्थितिके आनेसे अपनेको सुखी मानता है और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेसे अपनेको दुःखी मानता है। अतः इसकी 'भोक्ता' संज्ञा हो जाती है।

यह अपनेको शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा धन, सम्पत्ति आदिका मालिक मानता है। अतः यह 'महेश्वर' नामसे कहा जाता है।

'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'—पुरुष सर्वोत्कृष्ट है, परम आत्मा है, इसलिये शास्त्रोंमें इसको 'परमात्मा' नामसे कहा गया है। यह देहमें रहता हुआ भी देहके सम्बन्धसे स्वतः रहित है। आगे इसी अध्यायके

इकतीसवें श्लोकमें इसके विषयमें कहा गया है कि यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।

इस श्लोकमें एक ही तत्त्वको भिन्न-भिन्न उपाधियोंके सम्बन्धसे 'उपद्रष्टा' आदि पदोंसे सम्बोधित किया गया है, इसलिये इन पृथक्-पृथक् नामोंसे पुरुषके ही स्वरूपका

वर्णन समझना चाहिये। वास्तवमें उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जैसे एक ही व्यक्ति देश, काल, वेश, सम्बन्ध आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न (पिता, चाचा, नाना, भाई आदि) नामोंसे पुकारा जाता है, ऐसे ही पुरुष भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जानेपर भी वास्तवमें एक ही है।

**परिशिष्ट भाव**—वास्तवमें पुरुष 'पर' ही है, पर अन्यके सम्बन्धसे वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि बन जाता है। जैसे, मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता', पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्धरहित ही है।

यहाँ उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि अनेक उपाधियोंका तात्पर्य एकतामें है कि चेतन तत्त्व वास्तवमें एक ही है। ज्ञानके प्रकरणमें प्रकृति और पुरुष दोका ही वर्णन मुख्य है। अतः यहाँ आये उपद्रष्टा, अनुमन्ता, ईश्वर आदि सब शब्द 'पुरुष'के वाचक समझने चाहिये।

सम्बन्ध—उन्नीसवें श्लोकसे बाईसवें श्लोकतक प्रकृति और पुरुषका विवेचन करके अब आगेके श्लोकमें उन दोनोंको तत्त्वसे जाननेका फल बताते हैं।

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।  
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥**

एवम्	= इस प्रकार	यः	= जो मनुष्य	हुआ	
पुरुषम्	= पुरुषको	वेत्ति	= (अलग-अलग)	अपि	= भी
च	= और		जानता है,	भूयः	= फिर
गुणैः	= गुणोंके	सः	= वह	न,	
सह	= सहित	सर्वथा	= सब तरहका	अभिजायते	= जन्म नहीं
प्रकृतिम्	= प्रकृतिको	वर्तमानः	= बर्ताव करता		लेता।

**व्याख्या**—'य एवं वेत्ति' 'न स भूयोऽभिजायते'—पूर्वश्लोकमें 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' पदोंसे पुरुषको देहसे पर अर्थात् सम्बन्धरहित कहा है, उसीको यहाँ 'एवम्' पदसे कहते हैं कि जो साधक इस तरह पुरुषको देहसे, प्रकृतिसे पर अर्थात् सम्बन्धरहित जान लेता है तथा विकार, कार्य, करण, विषय आदि रूपसे जो कुछ भी संसार दीखता है, वह सब प्रकृति और उसके गुणोंका कार्य है—ऐसा यथार्थरूपसे जान लेता है, वह फिर वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार प्राप्त कर्तव्यकर्मको करता हुआ भी पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता। कारण कि जन्म होनेमें गुणोंका संग ही कारण है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

यहाँ 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' पदोंमें निषिद्ध आचरण नहीं लेना चाहिये; क्योंकि जो अपनेको देहके सम्बन्धसे रहित अनुभव करता है और गुणोंके सहित प्रकृतिको

अपनेसे अलग अनुभव करता है, उसमें असत् वस्तुओंकी कामना पैदा हो ही नहीं सकती। कामना न होनेसे उसके द्वारा निषिद्ध आचरण होना असम्भव है; क्योंकि निषिद्ध आचरणके होनेमें कामना ही हेतु है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)।

भगवान् यहाँ साधकको अपना वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये सावधान करते हैं, जिससे वह अच्छी प्रकार जान ले कि स्वरूपमें वस्तुतः कोई भी क्रिया नहीं है। अतः वह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है और कर्ता न होनेके कारण वह भोक्ता भी नहीं होता। साधक जब अपने-आपको अकर्ता जान लेता है, तब उसका कर्तापनका अभिमान स्वतः नष्ट हो जाता है और उसमें क्रियाकी फलासक्ति भी नहीं रहती। फिर भी उसके द्वारा शास्त्रविहित क्रियाएँ स्वतः होती रहती हैं। गुणातीत होनेके कारण वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता।



**परिशिष्ट भाव**—पूर्वश्लोकमें आये 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' की व्याख्या इस श्लोकमें करते हैं। जिसका विवेक जाग्रत् हो गया है अर्थात् 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'—यह अनुभवमें आ गया है, वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब कर्म करते हुए भी निर्लेप रहता है। वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप निर्लिप्त ही है, पर गुणोंके संगसे वह लिप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता है (इसी अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। गुणोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, पुरुषके साथ नहीं (इसी अध्यायका उन्नीसवाँ-बीसवाँ श्लोक)।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' पदोंमें आये 'अपि' का तात्पर्य है कि वह आसक्त मनुष्यकी तरह सब बर्ताव करता हुआ भी निर्विकार रहता है (गीता—तीसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)।

'न स भूयोऽभिजायते'—जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता। उसकी ब्रह्मसे सधर्मता हो जाती है अर्थात् जैसे ब्रह्मका जन्म-मरण नहीं होता, ऐसे ही उसका भी जन्म-मरण नहीं होता।

छठे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें आया है— 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' और यहाँ आया है— 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'। छठे अध्यायमें आये 'स योगी मयि वर्तते' पदोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और यहाँ आये 'न स भूयोऽभिजायते' पदोंमें बोधकी प्राप्ति है। प्रेम और बोध—दोनोंमें ही गुणोंका संग नहीं रहता। दोनोंमें अन्तर यह है कि बोधमें तो जन्म-मरणसे मुक्ति होती है, पर प्रेममें मुक्तिके साथ-साथ भगवान्से अभिन्नता होती है।

*सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जन्मरहित होनेमें प्रकृति-पुरुषको यथार्थ जानना कारण बताया। अब यह जिज्ञासा होती है कि क्या जन्म-मरणसे रहित होनेका और भी कोई उपाय है? इसपर भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें चार साधन बताते हैं।*

## ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

### अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

केचित्	= कई मनुष्य	योगेन	= सांख्ययोगके द्वारा	आत्मना	= अपने-आपसे
ध्यानेन	= ध्यानयोगके द्वारा,	च	= और	आत्मनि	= अपने-आपमें
अन्ये	= कई	अपरे	= कई	आत्मानम्	= परमात्मतत्त्वका
साङ्ख्येन,		कर्मयोगेन	= कर्मयोगके द्वारा	पश्यन्ति	= अनुभव करते हैं।

**व्याख्या**—'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मान-मात्मना'—पाँचवें अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें; छठे अध्यायके दसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक; और आठवें अध्यायके आठवेंसे चौदहवें श्लोकतक जो सगुण-साकार, निर्गुण-निराकार आदिके ध्यानका वर्णन हुआ है, उस ध्यानमें जिसकी जैसी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता है, उसके अनुसार ध्यान करके कई साधक अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

जो सम्बन्ध-विच्छेद प्रकृति और पुरुषको अलग-अलग जाननेसे होता है, वह सम्बन्ध-विच्छेद ध्यानसे भी होता है। ध्यान न तो चित्तकी मूढ़ वृत्तिमें होता है और न क्षिप्त वृत्तिमें होता है। ध्यान विक्षिप्त वृत्तिमें आरम्भ होता है। चित्त जब स्वरूपमें एकाग्र हो जाता है, तब समाधि हो जाती है। एकाग्र होनेपर चित्त निरुद्ध हो जाता है। इस

तरह जिस अवस्थामें चित्त निरुद्ध हो जाता है। उस अवस्थामें चित्त संसार, शरीर, वृत्ति, चिन्तन आदिसे भी उपरत हो जाता है। उस समय ध्यानयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें अपना अनुभव करके सन्तुष्ट हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका उन्नीसवाँ-बीसवाँ श्लोक)।

'अन्ये साङ्ख्येन योगेन'—दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक; चौथे अध्यायके तैंतीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकतक; पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें तथा तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक; और बारहवें अध्यायके चौथे-पाँचवें आदि श्लोकोंमें कहे हुए सांख्ययोगके द्वारा कई साधक अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

सांख्ययोग नाम है विवेकका। उस विवेकके द्वारा सत्-असत्का निर्णय हो जाता है कि 'सत्' नित्य है,

सर्वव्यापक है, स्थिर स्वभाववाला है, अचल है, अव्यक्त है, अचिन्त्य है; और 'असत्' चल है, अनित्य है, विकारी है, परिवर्तनशील है। ऐसे विवेक-विचारसे सांख्ययोगी प्रकृति और उसके कार्यसे बिलकुल अलग हो जाता है और अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है।

'कर्मयोगेन चापरे'—दूसरे अध्यायके सैंतालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक; तीसरे अध्यायके सातवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक; चौथे अध्यायके सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक; पाँचवें अध्यायके छठे-सातवें आदि श्लोकोंमें कहे हुए कर्मयोगके द्वारा कई साधक अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

जो सम्बन्ध-विच्छेद प्रकृति और पुरुषको अलग-अलग जाननेसे होता है, वह सम्बन्ध-विच्छेद कर्मयोगसे भी होता है। कर्मयोगी जो कुछ भी करे, वह केवल

संसारके हितके लिये ही करे। यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी करे, वह सब मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करे, अपने लिये नहीं। ऐसा करनेसे स्वयंका उन क्रियाओंसे, पदार्थ, शरीर आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

मनुष्यने स्वाभाविक ही अपनेमें देहको स्वीकार किया है, माना है। इस मान्यताको दूर करनेके लिये अपनेमें परमात्माको देखना अर्थात् देहकी जगह अपनेमें परमात्माको मानना बहुत आवश्यक है।

अपनेमें परमात्माको देखना करणनिरपेक्ष होता है। करणसापेक्ष ज्ञान प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है। इसलिये साधक किसी करणके द्वारा परमात्मामें स्थित नहीं होता, प्रत्युत स्वयं ही स्थित होता है स्वयंकी परमात्मामें स्थिति किसी करणके द्वारा हो ही नहीं सकती।

**परिशिष्ट भाव—** जैसे पूर्वश्लोकमें विवेकके महत्त्वको मुक्तिका उपाय बताया, ऐसे ही यहाँ ध्यानयोग आदि अन्य उपाय बताते हैं। गीतामें ध्यानयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात छठे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें कही है, सांख्ययोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें कही है और कर्मयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें कही है। ये सभी परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।

## अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्ये	= दूसरे मनुष्य	तु	= पर	च, ते	= ऐसे वे
एवम्	= इस प्रकार ( ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको )	अन्येभ्यः	= दूसरोंसे ( जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे )	श्रुतिपरायणाः	= सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य
अजानन्तः	= नहीं जानते,	श्रुत्वा	= सुनकर	अपि	= भी
		एव	= ही	मृत्युम्	= मृत्युको
		उपासते	= उपासना करते हैं,	अतितरन्ति	= तर जाते हैं ।

**व्याख्या—**'अन्ये त्वेवमजानन्तः.....मृत्युं श्रुति-परायणाः'—कई ऐसे तत्त्वप्राप्तिकी उत्कण्ठावाले मनुष्य हैं, जो ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग आदि साधनोंको समझते ही नहीं; अतः वे साधन उनके अनुष्ठानमें भी नहीं आते। ऐसे मनुष्य केवल तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर

जाते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। जैसे धनी आदमीकी आज्ञाका पालन करनेसे धन मिलता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करनेसे तत्त्वज्ञान मिलता है। हाँ, इसमें इतना फरक है कि धनी जब देता है, तब धन मिलता है; परन्तु सन्त-महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करनेसे, उनके मनके, संकेतके, आज्ञाके

अनुसार तत्परतापूर्वक चलनेसे मनुष्य स्वतः उस परमात्म-तत्त्वको प्राप्त हो जाता है, जो कि सबको सदासे ही स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त है। कारण कि धन तो धनीके अधीन होता है, पर परमात्मतत्त्व किसीके अधीन नहीं है।

शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही मृत्यु होती है। जो मनुष्य महापुरुषोंकी आज्ञाके परायण हो जाते हैं, उनका शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है। अतः वे मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् वे पहले शरीरकी मृत्युसे अपनी मृत्यु मानते थे, उस मान्यतासे रहित हो जाते हैं।

ऐसे श्रुतिपरायण साधकोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—

१—यदि साधकमें सांसारिक सुख-भोगकी इच्छा नहीं है, केवल तत्त्वप्राप्तिकी ही उत्कट अभिलाषा है और वह जिनकी आज्ञाका पालन करता है, वे अनुभवी महापुरुष हैं, तो साधकको शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

२—यदि साधकमें सुखभोगकी इच्छा शेष है, तो केवल महापुरुषकी आज्ञाका पालन करनेसे ही उसकी उस इच्छाका नाश हो जायगा और उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

३—साधक जिनकी आज्ञाका पालन करता है, वे अनुभवी महापुरुष नहीं हैं, पर साधकमें किञ्चिन्मात्र भी

सांसारिक इच्छा नहीं है और उसका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति करना है, तो उसको भगवत्कृपासे परमात्मप्राप्ति हो जायगी; क्योंकि भगवान् तो उसको जानते ही हैं।

अगर किसी कारणवश साधककी संत-महापुरुषके प्रति अश्रद्धा, दोष-दृष्टि हो जाय तो उनमें साधकको अवगुण-ही-अवगुण दीखेंगे, गुण दीखेंगे ही नहीं। इसका कारण यह है कि महापुरुष गुण-अवगुणोंसे ऊँचे उठे (गुणातीत) होते हैं; अतः उनमें अश्रद्धा होनेपर अपना ही भाव अपनेको दीखता है। मनुष्य जिस भावसे देखता है, उसी भावसे उसका सम्बन्ध हो जाता है। अवगुण देखनेसे उसका सम्बन्ध अवगुणोंसे हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह तत्त्वज्ञ महापुरुषकी क्रियाओंपर, उनके आचरणोंपर ध्यान न देकर उनके पास तटस्थ होकर रहे। संत-महापुरुषसे ज्यादा लाभ वही ले सकता है, जो उनसे किसी प्रकारके सांसारिक व्यवहारका सम्बन्ध न रखकर केवल पारमार्थिक (साधनका) सम्बन्ध रखता है। दूसरी बात, साधक इस बातकी सावधानी रखे कि उसके द्वारा उन महापुरुषकी कहीं भी निन्दा न हो। यदि वह उनकी निन्दा करेगा, तो उसकी कहीं भी उन्नति नहीं होगी।

**परिशिष्ट भाव**—जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको समझनेकी योग्यता नहीं है, जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरनेकी उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं।

उपनिषद्में एक कथा आती है। जबालाका पुत्र सत्यकाम गौतम ऋषिके पास उपदेश लेने गया। ऋषिने उसको चार सौ कृश तथा निर्बल गायें देकर कहा कि तू इनके पीछे-पीछे जा। सत्यकामने उत्साहपूर्वक कहा कि इनकी संख्या एक हजार होनेपर ही मैं वापिस आऊँगा। ऐसा कहकर वह उन गायोंको वनमें ले गया और वहाँ उनका पालन-पोषण करने लगा। बहुत वर्ष बीतनेपर जब उनकी संख्या एक हजार हो गयी, तब एक साँड़ने उससे कहा कि हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमारेको आचार्यके पास पहुँचा दे, ऐसा कहकर उस साँड़ने सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश दिया। दूसरे ही दिन सत्यकाम गायोंको लेकर गुरुकुलकी ओर रवाना हो गया। रास्तेमें उसको अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका, हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका और मद्गु [एक जलचर पक्षी]—ने ब्रह्मके चौथे पादका उपदेश दिया। इस प्रकार रास्तेमें ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके वह गौतम ऋषिके पास पहुँचा। गुरुके पूछनेपर उसने सारी बात बतायी और उनसे अपने श्रीमुखसे उपदेश देनेकी प्रार्थना की। तब गौतम ऋषिने उसको उपदेश दिया (छान्दोग्य० चौथा अध्याय, चौथेसे नवें खण्डतक)। इस तरह केवल तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषकी आज्ञा माननेसे ही सत्यकामको तत्त्वज्ञान हो गया।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि श्रुतिपरायण साधक भी मृत्युको तर जाते हैं, तो अब प्रश्न होता है कि जन्म-मरणके होनेमें क्या कारण है? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

**यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।**

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि**

**भरतर्षभ ॥ २६ ॥**

भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	यावत्, किञ्चित्	= जितने भी	क्षेत्रक्षेत्रज्ञ- संयोगात्	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे (उत्पन्न हुए)
स्थावर-		सत्त्वम्	= प्राणी		
जङ्गमम्	= स्थावर और जंगम	सञ्जायते	= पैदा होते हैं,	विद्धि	= समझो।
		तत्	= उनको (तुम)		

व्याख्या—‘यावत्संजायते’—क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्— स्थिर रहनेवाले वृक्ष, लता, दूब, गुल्म, त्वक्सार, बेंत, बाँस, पहाड़ आदि जितने भी स्थावर प्राणी हैं और चलने-फिरनेवाले मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मछली, कछुआ आदि जितने भी जंगम (थलचर, जलचर, नभचर) प्राणी हैं, वे सब-के-सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही पैदा होते हैं।

उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थ ‘क्षेत्र’ हैं और जो इस क्षेत्रको जाननेवाला, उत्पत्ति-विनाशरहित एवं सदा एकरस रहनेवाला है, वह ‘क्षेत्रज्ञ’ है। उस क्षेत्रज्ञ-(प्रकृतिस्थ पुरुष-)का जो शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध मानना है—यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है। इस माने हुए संयोगके कारण ही इस जीवको स्थावर-जंगम योनियोंमें

जन्म लेना पड़ता है। इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगको पहले इक्कीसवें श्लोकमें ‘गुणसंगः’ पदसे कहा है। तात्पर्य यह हुआ कि निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ तादात्म्य कर लेनेसे स्वयं जीवात्मा भी अपनेको जन्मने-मरनेवाला मान लेता है।

[ स्थावर-जंगम प्राणियोंके पैदा होनेकी बात तो यहाँ ‘संजायते’ पदसे कह दी और उनके मरनेकी बात आगेके श्लोकमें ‘विनश्यत्सु’ पदसे कहेंगे। ]

‘तद्विद्धि भरतर्षभ’—यह क्षेत्रज्ञ क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, इसीसे इसका जन्म होता है; परन्तु जब यह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, तब इसका जन्म नहीं होता—इस बातको तुम ठीक समझ लो।

परिशिष्ट भाव— यहाँ ‘यावत्संजायते’ के अन्तर्गत जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज, जलचर-नभचर-थलचर, मनुष्य, देवता, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सम्पूर्ण प्राणी लेने चाहिये। सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भी ‘एतद्योनीनि भूतानि’ पदोंसे यही बात कही गयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्ने परा और अपरा—दोनोंको अपनी प्रकृति बताकर कहा कि ‘इन दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और मैं ही सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ’ (गीता—सातवें अध्यायका छठा श्लोक)। परन्तु यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य है कि भक्तिके प्रकरणमें भगवान् अपनी तरफ दृष्टि कराते हैं; क्योंकि भक्तका भगवान्पर ही दृढ़ विश्वास होता है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमें भगवान् क्षेत्रज्ञ (स्वरूप)की ओर दृष्टि कराते हैं कि क्षेत्रके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही वह जन्म-मृत्युरूप बन्धनमें पड़ा है। यहाँ प्रश्न होता है कि आकर्षण एवं मिलन (संयोग) सजातीयतामें ही होता है, फिर विजातीय क्षेत्र (जड़) के साथ क्षेत्रज्ञ (चेतन)का संयोग कैसे हुआ? इसका उत्तर है कि जैसे रात और दिनका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भी संयोग नहीं हो सकता। परन्तु परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञमें यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है, उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसको यह स्वतन्त्रता भगवान्ने ही दी है। परन्तु उसने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया अर्थात् भगवान्के साथ सम्बन्ध न मानकर संसारके साथ सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि क्षेत्र-(शरीर-) के साथ सम्बन्ध रखनेसे, उसकी तरफ दृष्टि रखनेसे यह पुरुष जन्म-मरणमें जाता है, तो अब प्रश्न होता है कि इस जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये उसको क्या करना चाहिये? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

## समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

यः	= जो	परमेश्वरम्	= परमेश्वरको	पश्यति	= देखता है,
विनश्यत्सु	= नष्ट होते हुए	अविनश्यन्तम्	= नाशरहित (और)	सः	= वही
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	समम्	= समरूपसे	पश्यति	= (वास्तवमें सही)
भूतेषु	= प्राणियोंमें	तिष्ठन्तम्	= स्थित		देखता है।

**व्याख्या—**‘समं सर्वेषु भूतेषु’—परमात्माको सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम कहनेका तात्पर्य है कि सभी प्राणी विषम हैं अर्थात् स्थावर-जंगम हैं, सात्त्विक-राजस-तामस हैं, आकृतिसे छोटे-बड़े, लम्बे-चौड़े हैं, नाना वर्णवाले हैं—इस प्रकार तरह-तरहके जितने भी प्राणी हैं, उन सब प्राणियोंमें परमात्मा समरूपसे स्थित हैं। वे परमात्मा किसीमें छोटे-बड़े, कम-ज्यादा नहीं हैं।

पहले इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रज्ञके साथ अपनी एकता बताते हुए कहा था कि तू सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञ मेरेको समझ, उसी बातको यहाँ कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्मा समरूपसे स्थित हैं।

‘**तिष्ठन्तम्**’—सम्पूर्ण प्राणी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—इन तीन अवस्थाओंमें जाते हैं; सर्ग-प्रलय, महासर्ग-महाप्रलयमें जाते हैं; ऊँच-नीच गतियोंमें, योनियोंमें जाते हैं अर्थात् सभी प्राणी किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहते। परन्तु परमात्मा उन सब अस्थिर प्राणियोंमें नित्य-निरन्तर एकरूपसे स्थित रहते हैं।

‘**परमेश्वरम्**’—सभी प्राणी अपनेको किसी-न-किसीका ईश्वर अर्थात् मालिक मानते ही रहते हैं; परन्तु परमात्मा उन सभी प्राणियोंके तथा सम्पूर्ण जड-चेतन संसारके परम ईश्वर हैं।

‘**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति**’—प्रतिक्षण विनाशकी तरफ जानेवाले प्राणियोंमें विनाशरहित,

सदा एकरूप रहनेवाले परमात्माको जो निर्विकार देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है। तात्पर्य है कि जो परिवर्तनशील शरीरके साथ अपने-आपको देखता है, उसका देखना सही नहीं है; किन्तु जो सदा ज्यों-के-त्यों रहनेवाले परमात्माके साथ अपने-आपको अभिन्नरूपसे देखता है, उसका देखना ही सही है।

पहले इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही मेरे मतमें ज्ञान है, उसी बातको यहाँ कहते हैं कि जो नष्ट होनेवाले प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और सम देखता है, उसका देखना (ज्ञान) ही सही है। तात्पर्य है कि जैसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगमें क्षेत्रमें तो हरदम परिवर्तन होता है, पर क्षेत्रज्ञ ज्यों-का-त्यों ही रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर परमात्मा सब अवस्थाओंमें समानरूपसे स्थित रहते हैं।

पीछेके (छब्बीसवें) श्लोकमें भगवान्ने यह बताया कि जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही पैदा होते हैं। परन्तु उन दोनोंमें क्षेत्र तो किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहता और क्षेत्रज्ञ एक क्षण भी नहीं बदलता। अतः क्षेत्रज्ञसे क्षेत्रका जो निरन्तर वियोग हो रहा है, उसका अनुभव कर ले। इस (सत्ताईसवें) श्लोकमें भगवान्ने यह बताते हैं कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाले सम्पूर्ण विषम प्राणियोंमें जो परमात्मा नाशरहित और समानरूपसे स्थित रहते हैं, उनके साथ अपनी एकताका अनुभव कर ले।

**परिशिष्ट भाव**—जैसे आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी काले-काले बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी तरह-तरहके शब्द होते हैं, गर्जना होती है; परन्तु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण सत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूचाल आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परन्तु सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। यह निर्विकारता स्वाभाविक है, जबकि विकार (संग) कृत्रिम है, माना हुआ है। बद्ध हो या मुक्त, पापी हो या धर्मात्मा, यह निर्विकार सत्ता दोनोंमें समानरूपसे स्थित है।

जैसे, गंगाजी निरन्तर बहती रहती हैं, पर जिसके ऊपर बहती हैं, वह आधारशिला ज्यों-की-त्यों स्थिर रहती है। गंगाजीका जल कभी स्वच्छ होता है, कभी मटमैला होता है। कभी जल कम हो जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। कभी तपे पहाड़पर वर्षा होनेसे जल गरम हो जाता है, कभी ठण्डा हो जाता है। कभी तेज प्रवाहके कारण जल आवाज करने लगता है, कभी शान्त हो जाता है। परन्तु आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है, उसमें कभी कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह कभी जलमें मछलियाँ आ जाती हैं, कभी साँप आदि जन्तु आ जाते हैं, कभी लकड़ीके सिलपट तैरते हुए आ जाते हैं, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कूड़ा-कचरा आ जाता है, कभी मैला आ जाता है, कभी गोबर आ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई जीवित व्यक्ति तैरता हुआ आ जाता है। ये सब तो आकर चले जाते हैं, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों अचल-निर्विकार रहती है। ऐसे ही सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि निरन्तर बह रही है, पर स्वयं (चिन्मय सत्ता) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन और विनाश देश, काल आदिमें होता है, स्वयंमें नहीं।

‘यः पश्यति स पश्यति’—ये पद पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें साधनके विषयमें आये हैं और प्रस्तुत श्लोकमें सिद्धिके विषयमें आये हैं। इसीको आगे अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें व्यतिरेकरीतिसे कहा गया है कि जो आत्माको कर्ता देखता है, वह दुर्मति ठीक नहीं देखता—‘न स पश्यति दुर्मतिः’।

सम्बन्ध—अब भगवान् नष्ट होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंमें अविनाशी परमात्माको देखनेका फल बताते हैं।

## समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

हि	= क्योंकि	पश्यन्	= देखनेवाला मनुष्य	ततः	= इसलिये (वह)
सर्वत्र	= सब जगह	आत्मना	= अपने-आपसे	पराम्	= परम
समवस्थितम्	= समरूपसे स्थित	आत्मानम्	= अपनी	गतिम्	= गतिको
ईश्वरम्	= ईश्वरको	न, हिनस्ति	= हिंसा नहीं करता,	याति	= प्राप्त हो जाता है।
समम्	= समरूपसे				

व्याख्या—‘समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्’—जो मनुष्य स्थावर-जंगम, जड-चेतन प्राणियोंमें, ऊँच-नीच योनियोंमें, तीनों लोकोंमें समान रीतिसे परिपूर्ण परमात्माको देखता है अर्थात् उस परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता।

जो शरीरके साथ तादात्म्य करके शरीरके बढ़नेसे अपना बढ़ना और शरीरके घटनेसे अपना घटना, शरीरके बीमार होनेसे अपना बीमार होना और शरीरके नीरोग होनेसे अपना नीरोग होना, शरीरके जन्मनेसे अपना जन्मना और शरीरके मरनेसे अपना मरना मानता है तथा शरीरके विकारोंको अपने विकार मानता है, वह अपने-आपसे अपनी हत्या करता है अर्थात् अपनेको जन्म-मरणके चक्करमें ले जाता है। परन्तु जिसकी दृष्टि शरीरकी तरफसे हटकर केवल सर्वव्यापक, सबके शासक परमात्माकी तरफ हो जाती है, वह फिर अपनी

हत्या नहीं करता अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें नहीं जाता, अपनेमें संसार और शरीरके विकारोंका अनुभव नहीं करता।

वास्तवमें अपने-आपकी (स्वरूपकी) हत्या अर्थात् अभाव कभी कोई कर ही नहीं सकता और अपना अभाव कभी हो भी नहीं सकता तथा अपना अभाव करना कोई चाहता भी नहीं। वास्तवमें नाशवान् शरीरके साथ तादात्म्य करना ही अपनी हत्या करना है, अपना पतन करना है, अपने-आपको जन्म-मरणमें ले जाना है।

‘ततो याति परां गतिम्’—शरीरके साथ तादात्म्य करके जो ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता था, बार-बार जन्मता-मरता था, वह जब परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है, तब वह परमगतिको अर्थात् नित्यप्राप्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

### मार्मिक बात

परमात्मतत्त्व सब देशमें है, सब कालमें है, सम्पूर्ण

व्यक्तियोंमें है, सम्पूर्ण वस्तुओंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है। वह सबमें एक रूपसे, समान रीतिसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। अब उसको प्राप्त करना कठिन है तो सुगम क्या होगा? जहाँ चाहो, वहीं प्राप्त कर लो। वास्तवमें इस संसारका जो 'है'-पना दीखता है, वह संसारका नहीं है। संसार तो एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। इसमें केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन है। यह केवल परिवर्तनका ही पुंज है। जैसे पंखा तेजीसे घूमता है तो एक चक्र दीखता है, पर वास्तवमें वहाँ चक्र नहीं है, प्रत्युत पंखेकी ताड़ी ही चक्ररूपसे दीखती है। ऐसे ही यह संसार 'नहीं' होते हुए भी 'है'-रूपसे दीखता है। वास्तवमें एक परमात्मतत्त्व ही 'है'-रूपसे विद्यमान है।

विचार करें, अभी जितने शरीर आदि दीखते हैं, ये सौ वर्ष पहले थे क्या? और सौ वर्ष बाद रहेंगे क्या? ये पहले भी नहीं थे और अन्तमें भी नहीं रहेंगे; अतः ये बीचमें भी नहीं हैं। परन्तु परमात्मा सृष्टिके पैदा होनेसे पहले भी था, सृष्टिके लीन होनेके बाद भी रहेगा, अतः परमात्मा सृष्टिके समय भी ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। जो पहले भी नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा, वह अभी भी नहीं है; और जो पहले भी था, बादमें भी रहेगा, वह अभी भी है। अतः संसारका जो 'है'-पना दीखता है, यह गलती है। परमात्मतत्त्व ही 'है'-रूपसे दीखता है उस परमात्मतत्त्वकी सत्यतासे ही यह असत् संसार मोह-(मूर्खता-) के कारण सत्यकी तरह दीखता है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥

(मानस १। ११७। ४)

यदि मोह नहीं होगा, तो यह संसार नहीं दीखेगा, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही दीखेगा—'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७। १९)। कारण कि परमात्मा ही था, परमात्मा ही रहेगा, बीचमें दूसरा कहाँसे आयेगा? सोनेके जितने गहने हैं, उनमें पहले सोना ही था फिर सोना ही रहेगा; अतः बीचमें सोनेके सिवाय दूसरा कहाँसे आयेगा? गहना तो केवल (रूप, आकृति, उपयोग आदिको लेकर) कहनेके लिये है, तत्त्वतः तो सोना ही है। ऐसे ही संसार केवल कहनेके लिये है, तत्त्वतः तो परमात्मा ही है। उस परमात्माका अनुभव करनेमें ही मनुष्य-जन्मकी सफलता है।

'है'-(परमात्मा-) का अनुभव न करके 'नहीं'—

(संसार-) में उलझ जाना मनुष्यता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इस पशुताका त्याग करना है—'पशुबुद्धिमिमां जहि' (श्रीमद्भा० १२। ५। २)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो नष्ट होनेवाले प्राणियोंमें नष्ट न होनेवाले परमात्माको देखता है, उसका देखना सही है। परन्तु जो नष्ट होनेवालेको देखता है और नष्ट न होनेवालेको नहीं देखता, वह आत्मघाती है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।

किं तेन न कृतं पापं चौरिणात्मापहारिणा ॥

(महाभारत, उद्योग० ४२। ३७)

'जो अन्य प्रकारका (अविनाशी) होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका (विनाशी) मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया?'

जो नाशवान् संसारको न देखकर सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वको देखता है, वह आत्मघाती नहीं होता अर्थात् वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो सब जगह परिपूर्ण परमात्मतत्त्वको न देखकर संसार-शरीरको देखता है, वह आत्मघाती परमगतिको न प्राप्त होकर बार-बार जन्मता-मरता रहता है, दुःख पाता रहता है। इसलिये मनुष्य अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे (गीता—छठे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

जैसे दर्पणमें मुख नहीं होनेपर भी मुख दीखता है और स्वप्नमें हाथी नहीं होनेपर भी हाथी दीखता है, ऐसे ही संसार नहीं होनेपर भी संसार दीखता है। अगर संसारकी तरफ दृष्टि न रहे तो संसार 'है'-रूपसे नहीं दीखेगा। परमात्मा ही 'है'-रूपसे दीख रहा है—इस बातको साधक दृढ़तासे मान ले, फिर चाहे वह अभी न दीखे, पर बादमें दीखने लग जायगा। जैसे अभी साधक वृन्दावनमें बैठा है, तो उसे वृन्दावनको याद नहीं करना पड़ता। सोते समय, भोजन करते समय, हरेक कार्य करते समय वह वृन्दावनको याद नहीं करता; परन्तु 'मैं वृन्दावनमें हूँ'—इस बातमें उसको सन्देह नहीं होता। वह बिना याद किये याद रहता है। ऐसे ही अभी भले ही परमात्मा न दीखे, पर साधक ऐसा दृढ़तासे मान ले कि 'है'-रूपसे तो केवल परमात्मा ही है, संसार नहीं है, तो बादमें उसको ऐसा अनुभव होने लग जायगा। कारण कि मिथ्या वस्तु कबतक टिकी रहेगी और सत्य वस्तु कबतक छिपी रहेगी?

**परिशिष्ट भाव—** वास्तवमें सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें आत्माका ही वर्णन है; परन्तु 'परमेश्वर' और 'ईश्वर' नाम आनेसे इन श्लोकोंकी व्याख्यामें परमात्माका वर्णन किया गया है; क्योंकि आत्माका परमात्मासे साधर्म्य है (इसी अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

**सम्बन्ध—**इसी अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगकी बात बतायी। इस संयोगसे छूटनेके दो उपाय हैं—परमात्माके साथ अपने स्वतःसिद्ध सम्बन्धको पहचानना और प्रकृति-(शरीर-) से अपने माने हुए सम्बन्धको तोड़ना। सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें परमात्माके साथ सम्बन्धको पहचाननेकी बात बता दी। अब आगेके दो श्लोकोंमें प्रकृतिसे सम्बन्ध तोड़नेकी बात बताते हैं।

**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।**

**यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥**

यः	= जो	क्रियमाणानि	= की जाती हुई	पश्यति	= देखता (अनुभव करता) है,
कर्माणि	= सम्पूर्ण क्रियाओंको	पश्यति	= देखता है	तथा	= और
सर्वशः	= सब प्रकारसे	आत्मानम्	= अपने-आपको	सः, च	= वही (यथार्थ देखता है)।
प्रकृत्या	= प्रकृतिके द्वारा	अकर्तारम्	= अकर्ता		
एव	= ही				

**व्याख्या—**'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'—वास्तवमें चेतन तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक निर्विकार, सम और शान्तरूपसे स्थित है। उस चेतन तत्त्व-(परमात्मा-) की शक्ति प्रकृति स्वतः-स्वाभाविक क्रियाशील है। उसमें नित्य-निरन्तर क्रिया होती रहती है—'प्रकर्षण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः'। यद्यपि प्रकृतिको सक्रिय और अक्रिय—दो अवस्थाओंवाली (सर्ग-अवस्थामें सक्रिय और प्रलय-अवस्थामें अक्रिय) कहते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करें तो प्रलय-अवस्थामें भी उसकी क्रियाशीलता मिटती नहीं है। कारण कि जब प्रलयका आरम्भ होता है, तब प्रकृति सर्ग-अवस्थाकी तरफ चलती है। इस प्रकार प्रकृतिमें सूक्ष्म क्रिया चलती ही रहती है। प्रकृतिकी सूक्ष्म क्रियाको ही अक्रिय-अवस्था कहते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें सृष्टिकी रचना नहीं होती। परन्तु महासर्गमें जब सृष्टिकी रचना होती है, तब सर्गके आरम्भसे सर्गके मध्यतक प्रकृति सर्गकी तरफ चलती है और सर्गका मध्य भाग आनेपर प्रकृति प्रलयकी तरफ चलती है। इस प्रकार प्रकृतिकी स्थूल क्रियाको सक्रिय-अवस्था कहते हैं। अगर प्रलय और महाप्रलयमें प्रकृतिको अक्रिय माना जाय, तो प्रलय-महाप्रलयका आदि, मध्य और अन्त कैसे होगा?

ये तीनों तो प्रकृतिमें सूक्ष्म क्रिया होनेसे ही होते हैं। अतः सर्ग-अवस्थाकी अपेक्षा प्रलय-अवस्थामें अपेक्षाकृत अक्रियता है, सर्वथा अक्रियता नहीं है।

सूर्यका उदय होता है, फिर वह मध्यमें आ जाता है और फिर वह अस्त हो जाता है, तो इससे मालूम होता है कि प्रातः सूर्योदय होनेपर प्रकाश मध्याह्नतक बढ़ता जाता है और मध्याह्नसे सूर्यास्ततक प्रकाश घटता जाता है। सूर्यास्त होनेके बाद आधी राततक अन्धकार बढ़ता जाता है और आधी रातसे सूर्योदयतक अन्धकार घटता जाता है। वास्तवमें प्रकाश और अन्धकारकी सूक्ष्म सन्धि मध्याह्न और मध्य-रात ही है, पर वह दीखती है सूर्योदय और सूर्यास्तके समय। इस दृष्टिसे प्रकाश और अन्धकारकी क्रिया मिटती नहीं, प्रत्युत निरन्तर होती ही रहती है। ऐसे ही सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलयमें भी प्रकृतिमें क्रिया निरन्तर होती ही रहती है\*।

इस क्रियाशील प्रकृतिके साथ जब यह पुरुष सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब शरीरद्वारा होनेवाली स्वाभाविक क्रियाएँ (तादात्म्यके कारण) अपनेमें प्रतीत होने लगती हैं।

'यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति'— प्रकृति और उसके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें

\* महासर्गमें समयकी गणनाका साधन सूर्य होता है; किन्तु महाप्रलयमें सूर्य भी लीन हो जाता है। अतः महासर्गके कालसे ही महाप्रलयके कालकी गणना आरम्भ हो जाती है। महाप्रलयके कालकी गणनाका एकमात्र साधन नित्य, चेतन, अविनाशी परमात्मतत्त्व ही होता है।



खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, घटना-बढ़ना, हिलना-डुलना, सोना-जागना, चिन्तन करना, समाधिस्थ होना आदि जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, वे सभी प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं, स्वयंके द्वारा नहीं; क्योंकि स्वयंमें कोई क्रिया होती ही नहीं—ऐसा जो देखता है अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तवमें ठीक देखता है। कारण कि ऐसा देखनेसे अपनेमें अकर्तृत्व-(अकर्तापन-) का अनुभव हो जाता है।

यहाँ क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा होनेवाली बताया है, कहीं गुणोंके द्वारा होनेवाली बताया है और कहीं इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली बताया है—ये तीनों बातें एक ही हैं। प्रकृति सबका कारण है, गुण प्रकृतिके कार्य हैं और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। अतः प्रकृति, गुण और इन्द्रियाँ—इनके द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा होनेवाली ही कही जाती हैं।

**परिशिष्ट भाव**—जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। इसमें जीवका हाथ नहीं है। प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही गीतामें कहीं 'गुणोंसे होनेवाली क्रियाएँ' और कहीं 'इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ' कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३। २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३। २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५। ९) आदि। तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिजन्य ही है। अतः प्रकृति कभी किंचिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किंचिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ—ऐसा अनुभव करता है—'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५। ८); स्वयं न करता है, न करवाता है—'नैव कुर्वन्न कारयन्' (५। १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (१३। ३१); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं.....' (१८। १६) आदि।

## यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा	= जिस कालमें (साधक)	स्थित	= स्थित	विस्तारम्	= विस्तार (देखता है),
भूतपृथग्भावम्	= प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको	अनुपश्यति	= देखता है	तदा	= उस कालमें (वह)
एकस्थम्	= एक प्रकृतिमें ही	च	= और	ब्रह्म	= ब्रह्मको
		ततः	= उस प्रकृतिसे	सम्पद्यते	= प्राप्त हो जाता है।
		एव	= ही (उन सबका)		

**व्याख्या**—[प्रकृतिके दो रूप हैं—क्रिया और पदार्थ। क्रियासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये उनतीसवाँ श्लोक कहा, अब पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये यह तीसवाँ श्लोक कहते हैं।]

'यदा भूतपृथग्भावं ..... ब्रह्म सम्पद्यते तदा'—जिस कालमें साधक सम्पूर्ण प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको अर्थात् त्रिलोकीमें जितने जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज प्राणी पैदा होते हैं, उन प्राणियोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित

देखता है, उस कालमें वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

त्रिलोकीके स्थावर-जंगम प्राणियोंके शरीर, नाम, रूप, आकृति, मनोवृत्ति, गुण, विकार, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि सब एक प्रकृतिसे ही उत्पन्न हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृतिमें ही स्थित रहते हैं और प्रकृतिमें ही लीन होते हैं। इस प्रकार देखनेवाला ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अर्थात् प्रकृतिसे अतीत स्वतःसिद्ध अपने स्वरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें वह पहलेसे ही प्राप्त था, केवल प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ

अपना सम्बन्ध माननेसे ही उसको अपने स्वरूपका अनुभव नहीं होता था। परन्तु जब वह सबको प्रकृतिमें ही स्थित और प्रकृतिसे ही उत्पन्न देखता है, तब उसको अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

जैसे पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले स्थावर-जंगम जितने भी शरीर हैं तथा उन शरीरोंमें जो कुछ भी परिवर्तन होता है, रूपान्तर होता है<sup>१</sup> क्रियाएँ होती हैं<sup>२</sup> वे सब पृथ्वीपर ही होती हैं। ऐसे ही प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले जितने गुण, विकार हैं तथा उनमें जो कुछ परिवर्तन होता है, घट-बढ़ होती है, वह सब-की-सब प्रकृतिमें ही होती है। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीसे पैदा होनेवाले पदार्थ पृथ्वीमें ही स्थित रहनेसे और पृथ्वीमें लीन होनेसे पृथ्वीरूप ही हैं, ऐसे ही प्रकृतिसे पैदा होनेवाला सब संसार प्रकृतिमें ही स्थित रहनेसे और प्रकृतिमें ही लीन होनेसे प्रकृतिरूप ही है। इसी प्रकार स्थावर-जंगम प्राणियोंके रूपमें जो चेतन-तत्त्व है, वह निरन्तर परमात्मामें

ही स्थित रहता है। प्रकृतिके संगसे उसमें कितने ही विकार क्यों न दीखें, पर वह सदा असंग ही रहता है। ऐसा स्पष्ट अनुभव हो जानेपर साधक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

यह नियम है कि प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, सुख-बुद्धि आदिके प्राणियोंको अलग-अलग भावसे देखनेपर राग-द्वेष पैदा हो जाते हैं। राग होनेपर उनमें गुण दिखायी देते हैं और द्वेष होनेपर दोष दिखायी देते हैं। इस प्रकार दृष्टिके आगे राग-द्वेषरूप परदा आ जानेसे वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। परन्तु जब साधक अपने कहलानेवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको प्रकृतिमें ही देखता है तथा अपनेमें उनका अभाव देखता है, तब उसकी दृष्टिके आगेसे राग-द्वेषरूप परदा हट जाता है और उसको स्वतःसिद्ध परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

**परिशिष्ट भाव**—पूर्वश्लोकमें व्यक्तिकी बात और प्रस्तुत श्लोकमें कालकी बात आयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्ने सम्पूर्ण भावोंको अपनेमें बताया है—‘भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः’ (१०।५), पर यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें सम्पूर्ण भावोंको प्रकृतिमें बताया है। तात्पर्य है कि जहाँ सत्-असत्का विभाग किया है, वहाँ सब भाव असत्में कहे हैं और जहाँ समग्रकी बात कही है, वहाँ सब भाव अपनेमें कहे हैं। समग्रमें सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही हैं—‘सदसच्चाहम्’ (१।१९)

सम्बन्ध—बाईसवें श्लोकमें जिसको देहसे पर बताया है और पीछेके (तीसवें) श्लोकमें जिसका ब्रह्मको प्राप्त होना बताया है, उस पुरुष-(चेतन-) के वास्तविक स्वरूपका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।**

**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥**

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	अव्ययः	= अविनाशी	न	= न
अयम्	= यह (पुरुष स्वयं)	परमात्मा	= परमात्मस्वरूप ही है।	करोति	= करता है (और)
अनादित्वात्	= अनादि होनेसे (और)	शरीरस्थः	= यह शरीरमें रहता हुआ	न	= न
निर्गुणत्वात्	= गुणोंसे रहित होनेसे	अपि	= भी	लिप्यते	= लिप्य होता है।

१-पहले मिट्टी और बीजको तौल ले और एक पात्रमें वह तुली हुई मिट्टी बिछाकर बीज बो दे और पानी सींच दे। फसल होनेपर उसको काटकर अनाज तैयार कर ले और मिट्टीको सूखने दे। सूखनेके बाद मिट्टी और अनाजको तौलकर देखे तो मिट्टीका वजन कम तथा अनाजका वजन ज्यादा होगा। यह मिट्टी-(पृथ्वी-) का अनाजमें रूपान्तर होना है

२-क्रियाएँ दो तरह की होती हैं—होना और करना। बालकका जवान और बूढ़ा होना आदि क्रियाएँ ‘होती’ हैं और खाना-पीना आदि क्रियाएँ ‘करते’ हैं। ये सब क्रियाएँ शरीरमें ही होती हैं।

**व्याख्या—**‘अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः’— इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको अनादि कहा है, उसीको यहाँ भी ‘अनादित्वात्’ पदसे अनादि कहा है अर्थात् यह पुरुष आदि-(आरम्भ-) से रहित है। अब प्रश्न होता है कि वहाँ तो प्रकृतिको भी अनादि कहा है, इसलिये प्रकृति और पुरुष—दोनोंमें क्या फरक रहा ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—‘निर्गुणत्वात्’ अर्थात् यह पुरुष गुणोंसे रहित है। प्रकृति अनादि तो है, पर वह गुणोंसे रहित नहीं है, प्रत्युत गुणों और विकारोंवाली है। उससे सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण तथा विकार पैदा होते हैं। परन्तु पुरुष इन तीनों गुणों और विकारोंसे सर्वथा रहित (निर्गुण और निर्विकार) है। ऐसा यह पुरुष साक्षात् अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है अर्थात् यह पुरुष विनाशरहित परम शुद्ध आत्मा है।

**‘शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते’—** यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न कुछ करता है और न किसी कर्मसे लिप्त ही होता है। तात्पर्य है कि इस पुरुष- (स्वयं-) ने न तो पहले किसी भी अवस्थामें कुछ किया है, न वर्तमानमें कुछ करता है और न आगे ही कुछ कर सकता है अर्थात् यह पुरुष सदासे ही प्रकृतिसे निर्लिप्त, असंग है तथा गुणोंसे रहित और अविनाशी है। इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व है ही नहीं।

यहाँ ‘शरीरस्थोऽपि’ कहनेका तात्पर्य है कि यह पुरुष जिस समय अपनेको शरीरमें स्थित मानकर अपनेको कार्यका कर्ता और सुख-दुःखका भोक्ता मानता है, उस समय भी वास्तवमें यह तटस्थ, प्रकाशमात्र ही रहता है। सुख-दुःखका भान इसीसे होता है; अतः इसको प्रकाशक कह सकते हैं, पर इसमें प्रकाशक-धर्म नहीं है।

**परिशिष्ट भाव—**पुरुष अनादि है, पर शरीर आदिवाला है। पुरुष निर्गुण है, पर शरीर गुणमय है। पुरुष परमात्मा है, पर शरीर अनात्मा है। पुरुष अव्यय है, पर शरीर नाशवान् है। इसलिये अज्ञानी मनुष्यके द्वारा पुरुष (आत्मा)-को शरीरमें स्थित माननेपर भी वास्तवमें वह शरीरमें स्थित नहीं है अर्थात् शरीरसे सर्वथा असम्बद्ध है—‘न करोति न लिप्यते’। कारण कि शरीरका सम्बन्ध तो संसारके साथ है, पर पुरुषका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। अतः वास्तवमें पुरुष कभी शरीरस्थ हो सकता ही नहीं। परन्तु इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान न देनेके कारण मनुष्य उसको शरीरस्थ मान लेता है।

**‘निर्गुणत्वात्’—** पुरुष स्वयं निर्गुण होते हुए भी गुणोंका संग करके बँध जाता है (गीता—इसी अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। दीखता तो ऐसा ही है कि बन्धन स्वतः-स्वाभाविक है और मुक्ति कृतिसाध्य है, पर वास्तवमें मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है और बन्धन कृतिसाध्य है। गुणोंका सम्बन्ध पुरुषके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रकृतिके साथ है (गीता १३। २३) इसलिये ‘अनादि, निर्गुण, परमात्मा, अव्यय’ और ‘न करोति न लिप्यते’— ये स्वतः-स्वाभाविक हैं। साधकको इस स्वाभाविकताका अनुभव करना है।

जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए माननेपर भी हम शरीरसे अलग हैं।

यहाँ ‘अपि’ पदसे ऐसा मालूम होता है कि अनादिकालसे अपनेको शरीरमें स्थित माननेवाला हरेक (चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त) प्राणी स्वरूपसे सदा ही निर्लिप्त, असंग है। उसकी शरीरके साथ एकता कभी हुई ही नहीं; क्योंकि शरीर तो प्रकृतिका कार्य होनेसे सदा प्रकृतिमें ही स्थित रहता है और स्वयं परमात्माका अंश होनेसे सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है। स्वयं परमात्मासे कभी अलग हो सकता ही नहीं। शरीरके साथ एकात्मता माननेपर भी, शरीरके साथ कितना ही घुल-मिल जानेपर भी, शरीरको ही अपना स्वरूप माननेपर भी उसकी निर्लिप्तता कभी नष्ट नहीं होती, वह स्वरूपसे सदा ही निर्लिप्त रहता है। अपनी निर्लिप्तताका अनुभव न होनेपर भी उसके स्वरूपमें कुछ भी विकृति नहीं होती। अतः उसने अपने स्वरूपसे न कभी कुछ किया है और न करता ही है तथा वह स्वयं न कभी लिप्त हुआ है और न लिप्त होता ही है।

यद्यपि पुरुष अपनेको शरीरमें स्थित माननेसे ही कर्ता और भोक्ता बनता है, तथापि इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि ‘प्रकृति’में स्थित पुरुष ही भोक्ता बनता है और यहाँ कहते हैं कि ‘शरीर’ में स्थित होनेपर भी पुरुष कर्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रकृति और उसका कार्य शरीर—दोनों एक ही हैं। अतः पुरुषको चाहे प्रकृतिमें स्थित कहो, चाहे शरीरमें स्थित कहो, एक ही बात है। एक शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे मात्र प्रकृतिके साथ, मात्र शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। वास्तवमें पुरुषका सम्बन्ध न तो व्यष्टि शरीरके साथ है और न समष्टि प्रकृतिके साथ ही है। अपना सम्बन्ध शरीरके साथ माननेसे ही वह अपनेको कर्ता-भोक्ता मान लेता है। वास्तवमें वह न कर्ता है और न भोक्ता है।

‘न करोति न लिप्यते’—यह साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः—स्वाभाविक है। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व (निष्कामता-निर्ममता)—का अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। इसीको गीताने स्मृति प्राप्त होना कहा है—‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा’ (१८। ७३)

अगर स्वरूप कर्ता और भोक्ता नहीं है तो फिर कर्ता और भोक्ता कौन है? यह विचार किया जाता है। पहले यह विचार करें कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि यह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको ‘अन्तःकरण’ कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—‘स्वतन्त्रः कर्ता’ (पाणि० अ० १। ४। ५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—‘साधकतमं करणम्’ (पाणि० अ० १। ४। ४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन (करण) है, जो लेखक (कर्ता)—के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर सुखी-दुःखी स्वयं क्यों होता है? यदि करण सुखी-दुःखी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये भगवान्ने यहाँ स्वरूपमें कर्तापनका निषेध किया है—‘न करोति’। आगे अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने कहा है कि जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (गीता—अठारहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दुःखी) होता है, वही कर्ता होता है।

अब यह विचार करें कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्में कभी अभाव नहीं होता—‘नाभावो विद्यते सतः’, जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—‘न लिप्यते’। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्की सत्ता ही नहीं है—‘नासतो विद्यते भावः’। असत्में चेतनता भी नहीं है। अतः उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्में है और न असत्में ही है। सत्-असत्के संयोगमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं है; क्योंकि जैसे दिन और रातका संयोग असम्भव है, ऐसे ही सत् और असत्का संयोग भी असम्भव है। अतः कर्तापन-भोक्तापन केवल माने हुए हैं—‘कर्ताहमिति मन्यते’ (३। २७)। जब साधक विवेकपूर्वक शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् मैं-मेरापनको मिटा देता है (जो कि वास्तवमें है नहीं), तब न कर्ता रहता है, न भोक्ता रहता है, प्रत्युत एक चिन्मय सत्ता रहती है। इस प्रकार अपनेमें कर्तापन और भोक्तापनके अभावका अनुभव होनेपर साधक मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, प्रत्युत शुद्ध स्वरूप (चिन्मय सत्ता) रह जाता है।

‘न करोति न लिप्यते’ पदोंका विवेचन भगवान्ने आगे बत्तीसवें-तैंतीसवें श्लोकोंमें किया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि वह पुरुष न करता है और न लिप्त होता है, तो अब प्रश्न होता है कि वह कैसे लिप्त नहीं होता और कैसे नहीं करता? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।  
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा	= जैसे	न, उपलिप्यते	= (कहीं भी) लिप्त नहीं होता,	अवस्थितः	= परिपूर्ण
सर्वगतम्	= सब जगह व्याप्त	तथा	= ऐसे ही	आत्मा	= आत्मा
आकाशम्	= आकाश	सर्वत्र	= सब जगह	देहे	= (किसी भी) देहमें
सौक्ष्म्यात्	= अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे			न, उपलिप्यते	= लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—[पूर्वश्लोकमें भगवान्ने 'न करोति' पदोंसे पहले कर्तृत्वका और फिर 'न लिप्यते' पदोंसे भोक्तृत्वका अभाव बताया है। परन्तु उन दोनोंका विवेचन करते हुए इस श्लोकमें पहले भोक्तृत्वके अभावकी बात बतायी है और आगेके श्लोकमें कर्तृत्वके अभावकी बात बतायेंगे। अतः यहाँ ऐसा व्यतिक्रम रखनेमें भगवान्का क्या भाव है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि कर्तृत्वके बाद ही भोक्तृत्व होता है अर्थात् कर्म करनेके बाद ही उस कर्मके फलका भोग होता है, तथापि मनुष्य जो कुछ भी करता है, पहले किसी फल-(सिद्धि-) का उद्देश्य मनमें रखकर ही करता है। अतः मनमें पहले भोक्तृत्व आता है, फिर उसके अनुसार काम करता है अर्थात् फिर कर्तृत्व आता है। इस दृष्टिसे भगवान् यहाँ सबसे पहले भोक्तृत्वका निषेध करते हैं। भोक्तृत्व-(लिप्यता-) का त्याग होनेपर कर्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है अर्थात् फलेच्छाका त्याग होनेपर क्रिया करनेपर भी कर्तृत्व नहीं होता।]

'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते'— आकाशका कार्य वायु, तेज, जल और पृथ्वी है। अतः

परिशिष्ट भाव—चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है। अपरा प्रकृतिके अंश 'अहम्' को पकड़नेके कारण ही यह जीव 'अंश' कहलाता है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता १५। ७)। अगर यह अहम्को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ता (होनेपन)-के सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार, अधिष्ठान, प्रकाशक और आश्रय है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत हैं। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित है अर्थात् वह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि सर्वदेशीय सत्ता एक ही है। वही योगियोंका योग है, वही ज्ञानियोंका ज्ञान है और वही भक्तोंका भगवान् है। साधकका लक्ष्य निरन्तर उस सत्ताकी तरफ ही रहना चाहिये।

सत्तामें एकदेशीयता अहम्के कारण दीखती है। वह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—'सुखसंगेन बध्नाति' (गीता १४। ६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अतः इसमें साधकको बहुत विशेष सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने आत्मामें भोक्तृत्वका अभाव बताया, अब आगेके श्लोकमें आत्मामें कर्तृत्वका अभाव बताते हैं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।  
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

आकाश अपने कार्य वायु आदि चारों भूतोंमें व्यापक है, पर ये चारों आकाशमें व्यापक नहीं हैं, प्रत्युत व्याप्य हैं। ये चारों आकाशके अन्तर्गत हैं, पर आकाश इन चारोंके अन्तर्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि आकाशकी अपेक्षा ये चारों स्थूल हैं और आकाश इनकी अपेक्षा सूक्ष्म है। ये चारों सीमित हैं, सान्त हैं और आकाश असीम है, अनन्त है। इन चारों भूतोंमें विकार होते हैं, पर आकाशमें विकार नहीं होता।

'सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते'—जैसे आकाश वायु आदि चारों भूतोंमें रहता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह, सब शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा किसी भी शरीरमें लिप्त नहीं होता। आत्मा सबमें परिपूर्ण रहता हुआ भी किसीमें घुलता-मिलता नहीं। वह सदा-सर्वदा सर्वथा निर्लिप्त रहता है; क्योंकि आत्मा स्वयं नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है (गीता—दूसरे अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक) तथा इस अविनाशी आत्मासे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है (गीता—दूसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन !	इमम्	= इस	क्षेत्री	= क्षेत्रज्ञ ( आत्मा )
यथा	= जैसे	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण
एकः	= एक ही	लोकम्	= संसारको	क्षेत्रम्	= क्षेत्रको
रविः	= सूर्य	प्रकाशयति	= प्रकाशित करता है,	प्रकाशयति	= प्रकाशित करता है,
		तथा	= ऐसे ही		

**व्याख्या—**‘यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः’—नेत्रोंसे दीखनेवाले इस सम्पूर्ण संसारको, संसारके मात्र पदार्थोंको एक सूर्य ही प्रकाशित करता है और संसारकी सब क्रियाएँ सूर्यके प्रकाशके अन्तर्गत होती हैं; परन्तु सूर्यमें ‘मैं सबको प्रकाशित करता हूँ’ ऐसा कर्तृत्व नहीं होता। जैसे—सूर्यके प्रकाशमें ही ब्राह्मण वेदपाठ करता है और शिकारी पशुओंको मारता है, पर सूर्यका प्रकाश वेदपाठ और शिकाररूपी क्रियाओंको करने-करवानेमें कारण नहीं बनता।

यहाँ ‘लोक’ शब्द मात्र संसार-(चौदह भुवनों-) का वाचक है। कारण कि मात्र संसारमें जो कुछ भी (चन्द्रमा, तारे, अग्नि, मणि, जड़ी-बूटी आदिमें) प्रकाश है, वह सब सूर्यका ही है।

‘क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत’—सूर्यकी तरह एक ही क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ, आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है अर्थात् सब क्षेत्रोंमें करना-करवानारूप सम्पूर्ण क्रियाएँ क्षेत्रीके प्रकाशमें ही होती हैं; परन्तु क्षेत्री उन क्रियाओंको करने-करवानेमें कारण नहीं बनता।

सूर्य तो केवल स्थूल संसारको ही प्रकाशित करता है

**परिशिष्ट भाव—**जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमात्र)-को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है। ऐसे ही स्वयं सम्पूर्ण लोकोंके सब शरीरोंको प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें स्वयं न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है, अर्थात् उसमें न कर्तृत्व आता है, न भोक्तृत्व। तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि)-के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी ही नहीं सकती। यह सबका अनुभव है कि शरीरके बिना हम कुछ कर सकते ही नहीं। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। अगर हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। अगर हम कुछ भी देखना न चाहें तो आँख हमारे क्या काम आयी? कुछ भी सुनना न चाहें तो कान हमारे क्या काम आया? स्थूल क्रिया करनेमें स्थूलशरीर काम आता है। चिन्तन, ध्यान करनेमें सूक्ष्मशरीर काम आता है। स्थिरता, समाधिमें कारणशरीर काम आता है।\* अगर कुछ न करें तो तीनों शरीर हमारे क्या काम आये? शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती, वह सर्वथा पूर्ण है; अतः हमारेको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। चिन्मय सत्ताके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं; क्योंकि सत्ता एक ही हो सकती है, दो हो सकती ही नहीं। अतः हमारेको किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार न तो क्रियाके साथ सम्बन्ध (कर्तृत्व)

\* समाधि और व्युत्थान—दोनों कारणशरीरमें होते हैं। कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ‘सहज-समाधि’ अथवा ‘सहजावस्था’ होती है।

और उसके प्रकाशमें स्थूल संसारकी ही क्रियाएँ होती हैं, पर क्षेत्री केवल स्थूल क्षेत्र-(संसार-) को ही प्रकाशित नहीं करता, प्रत्युत वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है तथा उसके प्रकाशमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं।

जैसे सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करनेपर भी सूर्यमें (सबको प्रकाशित करनेका) अभिमान नहीं आता और तरह-तरहकी क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी सूर्यमें नानाभेद नहीं आता, ऐसे ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करने, उनको सत्ता-स्फूर्ति देनेपर भी क्षेत्रीमें अभिमान, कर्तृत्व नहीं आता और तरह-तरहकी क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी क्षेत्रीमें नानाभेद नहीं आता। वह क्षेत्री सदा ही ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त, असंग रहता है।

कोई भी क्रिया तथा वस्तु बिना आश्रयके नहीं होती और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाश-(ज्ञान-) के नहीं होती। क्षेत्री सम्पूर्ण क्रियाओं, वस्तुओं और प्रतीतियोंका आश्रय और प्रकाशक है।

हो, न अप्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (कामना) हो और न प्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (ममता) हो तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहेगी, पर कर्ता और भोक्ता कोई नहीं रहेगा। (इसी अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको जाननेका फल बताते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं।

## क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

एवम्	= इस प्रकार	च	= तथा	विदुः	= जानते हैं,
ये	= जो	भूतप्रकृतिमोक्षम्	= कार्य-कारण- सहित प्रकृतिसे	ते	= वे
ज्ञानचक्षुषा	= ज्ञानरूपी नेत्रोंसे			परम्	= परमात्माको
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके		स्वयंको अलग	यान्ति	= प्राप्त हो
अन्तरम्	= विभागको				जाते हैं।

व्याख्या—[ज्ञानमार्ग विवेकसे ही आरम्भ होता है और वास्तविक विवेक-(बोध-) में ही समाप्त होता है। वास्तविक विवेक होनेपर प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वतःसिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—इसी बातको यहाँ बताया गया है।]

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा’—सत्-असत्, नित्य-अनित्य, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको अलग-अलग जाननेका नाम ‘ज्ञानचक्षु’ (विवेक) है। यह क्षेत्र विकारी है, कभी एकरूप नहीं रहता। यह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। ऐसा कोई भी क्षण नहीं है, जिसमें यह स्थिर रहता हो। परन्तु इस क्षेत्रमें रहनेवाला, इसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ सदा एकरूप रहता है। क्षेत्रज्ञमें परिवर्तन न हुआ है, न होगा और न होना सम्भव ही है। इस तरह जानना, अनुभव करना ही ज्ञानचक्षुसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागको जानना है।

‘भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्’—वास्तविक विवेक अर्थात् बोध होनेपर भूत और प्रकृतिसे अर्थात् प्रकृतिके कार्यमात्रसे तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अर्थात् प्रकृतिसे अपने अलगावका ठीक अनुभव होनेपर साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्ने पहले अव्यक्तकी उपासना करनेवालोंको अपनी प्राप्ति बताया थी—‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव’ (१२।४), उसी बातको इस अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ‘मद्भावायोपपद्यते’ पदसे, तेईसवें श्लोकमें ‘न स भूयोऽभिजायते’ पदोंसे और यहाँ ‘यान्ति ते परम्’ पदोंसे कहा है।

ज्ञानमार्गमें देहाभिमान ही प्रधान बाधा है। इस बाधाको दूर करनेके लिये भगवान्ने इसी अध्यायके आरम्भमें ‘इदं शरीरम्’ पदोंसे शरीर-(क्षेत्र-) से अपनी (क्षेत्रज्ञकी) पृथक्ताका अनुभव करनेके लिये कहा, और दूसरे श्लोकमें ‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्’ पदसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानको वास्तविक ज्ञान कहा, फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताका कई तरहसे वर्णन किया। अब उसी विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् अन्तमें कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताको ठीक-ठीक जान लेनेसे क्षेत्रके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

क्षेत्रज्ञने ही परमात्मासे विमुख होकर परमात्मासे भिन्नता मानी है और क्षेत्रके सम्मुख होकर क्षेत्रसे एकता मानी है। इसलिये परमात्मासे एकता और क्षेत्रसे सर्वथा भिन्नता—दोनों बातोंको कहना आवश्यक हो गया। अतः भगवान्ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ पदोंसे क्षेत्रज्ञकी परमात्मासे एकता बतायी और यहाँ क्षेत्रकी समष्टि संसारसे एकता बता रहे हैं। दोनोंका तात्पर्य क्षेत्रज्ञ और परमात्माकी अभिन्नता बतानेमें ही है।

जैसे किसी मकानमें चारों ओर अँधेरा है। कोई कह देता है कि मकानमें प्रेत रहते हैं, तो उसमें प्रेत दीखने लग जाते हैं अर्थात् उसमें प्रेत होनेका वहम हो जाता है। परन्तु किसी साहसी पुरुषके द्वारा मकानके भीतर जाकर प्रकाश कर देनेसे अँधेरा और प्रेत—दोनों ही मिट जाते हैं। अँधेरेमें चलते समय मनुष्य धीरे-धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाय, कहीं गड्ढा न आ जाय। उसको गिरनेका और साथ ही बिच्छू, साँप, चोर आदिका भय भी लगा रहता है।

परन्तु प्रकाश होते ही ये सब भय मिट जाते हैं। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण प्रकाशस्वरूप परमात्मासे विमुख होनेपर अन्धकारस्वरूप संसारकी स्वतन्त्र सत्ता सर्वत्र दीखने लग जाती है और तरह-तरहके भय सताने लग जाते हैं। परन्तु वास्तविक बोध होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और सब भय मिट जाते हैं। एक

प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही शेष रह जाता है। अँधेरेको मिटानेके लिये तो प्रकाशको लाना पड़ता है, परमात्माको कहींसे लाना नहीं पड़ता। वह तो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। इसलिये संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसका अनुभव अपने-आप हो जाता है।

**परिशिष्ट भाव**—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान 'विवेक' कहलाता है। जो साधक इस विवेकको महत्त्व देकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं तथा प्रकृति और उसके कार्य (शरीर)-को स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें एक चिन्मय तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता।

भगवान्ने 'मद्भावायोपपद्यते' (१३।१८) पदसे सगुणकी प्राप्ति बतायी है और यहाँ 'ये विदुर्यान्ति ते परम्' पदोंसे निर्गुणकी प्राप्ति बतायी है। वास्तवमें 'मद्भाव' और 'परम्' की प्राप्ति एक ही है (गीता—आठवें अध्यायका इक्कीसवाँ और चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवान्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १३ ॥

इस (तेरहवें) अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका वर्णन किया गया है। क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है—ऐसा अनुभव हो जानेसे क्षेत्रज्ञका परमात्माके साथ योग हो जाता है, जो कि नित्य है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' रखा गया है।

**तेरहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच**

(१) इस अध्यायमें 'अथ त्रयोदशोऽध्यायः' के तीन, 'श्रीभगवानुवाच' के दो, श्लोकोंके चार सौ आठ और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग चार सौ छब्बीस है।

(२) इस अध्यायमें 'अथ त्रयोदशोऽध्यायः' के आठ, 'श्रीभगवानुवाच' के सात, श्लोकोंके एक हजार

अट्ठासी और पुष्पिकाके बावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार एक सौ पचपन है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'श्रीभगवानुवाच।  
तेरहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके चौतीस श्लोकोंमेंसे—पहले श्लोकके प्रथम चरणमें तथा अठारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला'; सत्रहवें श्लोकके तृतीय चरणमें तथा इक्कीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; और तेईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उनतीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।